C. L. 29

COLLEGE LIBRARY

Class No. 891.432

Book No. A.81.ch

Acc. No. 14570

Chatta Beta

छठा बेटा

[पंजाब विश्वविद्यालय की "रत्न" परीक्षा में स्वीकृत]

उपेन्द्र नाथ 'अश्क'

Upendranath 'Ashka'

(Drama)

[RS 2/4/- PP. 117]

Publishers:-
Nilabh Prakashan Grih
5. Khusro Bagh Road,
Allahabad

नीलाभ-प्रकाशन-गृह
प्रयाग

सर्वाधिकार लेखक के पास सुरक्षित हैं।

पहला संस्करण १९४०
दूसरा संस्करण १९५०
तीसरा संस्करण १९५१

891.432
A 81 CL
14570

मूल्य

राज संस्करण २।)
साधारण सजिल्द १।।)
साधारण अजिल्द १।।)

प्रकाशक : नीलाभ प्रकाशन गृह, ५, खुसरो बाग रोड, इलाहाबाद
मुद्रक : श्रीरंजन, सेवा प्रेस, ६८, हिवट रोड, इलाहाबाद

डा० एस. एन. शर्मा के नाम

जो मेरे बड़े भाई भी हैं और मित्र भी !

'पूत कपूत होते हैं, पर पिता कुपिता नहीं होते'
लेकिन क्यों ! इस बात पर पिता कभी विचार नहीं करते ।

स्वार्थ हमारे उन 'गुणों' को उजागर कर देता है, जिनके अस्तित्व से, हम अपने निःस्वार्थ क्षणों में सदैव इनकार करते हैं ।

'यदि' को किस ने जीता है ?

लेखक की ओर से

'छठा बेटा' मेरे उन दिनों की याद है जब दिमाग खासा परेशान था, मुझे स्मरण है, मैंने इसका पहला दृश्य लिख कर अपने मित्र राजेन्द्रसिंह बेदी को सुनाया (जो स्वयं उर्दू के बड़े प्रसिद्ध कथाकार हैं) तो उन्होंने आश्चर्य प्रकट किया कि मैं कैसे ऐसी परेशान-दिमाग़ी में हास्य का सृजन कर सकता हूँ। लेकिन जैसा कि मैंने हास्य व्यंग्य की अपनी ४२ कहानियों के संग्रह 'छींटे' में लिखा है—पहले भावुकता ऐसे अवसरों पर बड़ी करुणाजनक चीज़ें लिखा लेती थी, पर बाद को उन्हीं बातों पर हँसी आने लगी। यह भी हो सकता है कि ज्यों ज्यों मस्तिष्क प्रौढ़ होता गया चीज़ों की वास्तविकता समझ में आती गई और जो बातें पहले क्रोध अथवा क्षोभ उपजाती थीं, वही हास्य उत्पन्न करने लगीं।

'छठा बेटा' को लिखे लगभग दस वर्ष होने को आये हैं। आज यद्यपि इसकी प्रतिकृति (Pattern) मुझे पसन्द नहीं और आज यदि मैं स्वप्न-नाटक लिखूं तो शायद कोई दूसरा ही आकार अपनाऊँ, पर जहाँ तक शेष बातों का सम्बन्ध है, मुझे 'छठा बेटा' आरम्भ से अन्त तक पसन्द है।

इसका मूल-भूत-विचार (जैसा कि मैंने अपने लेख 'मैं नाटक कैसे लिखता हूँ' * में लिखा है) मेरे मन में प्रति नगर (अमृतसर) से अटारी तक, दस मील का लम्बा मार्ग एक इक्के पर तै करते हुए, पैदा हुआ।

---

* अश्क जी के अभिनव नाटक संग्रह 'आदि-मार्ग' की भूमिका।

किसी जरूरी काम से मैं लाहौर जा रहा था। प्रीत नगर से मील डेढ़ मील चल कर लोपोके से इक्का मिलता था। इक्का भरा हो तो कोई बात नहीं, एक सवारी की जगह तत्काल मिल जाती थी; खाली हो तो कई चार घण्टे रुकना पड़ता था। यू० पी० वाले पंजाबी इक्के की कल्पना नहीं कर सकते। यहाँ का नवाबी-इक्का ऐसे लगता है जैसे बुर्का घोड़े के बल पर उड़ा जा रहा हो और पंजाबी इक्का, जैसे छोटे मोटे मकान को पहिये लग गये हों। बुर्के में क्योंकि एक ही आदमी (औरत) की गुंजाइश होती है, इसलिए इधर के इक्के में एक ही आदमी आराम से बैठ सकता है, यों बैठने को तो तीन चार भी लटके चले जाते हैं। पंजाबी इक्के में साधारणतः पाँच छै आदमी बैठते हैं, लेकिन पुलिस का डर न हो अथवा देहात का रास्ता हो तो इक्के वाले आठ आठ दस दस सवारियाँ भर लेते हैं।

इक्का मुझे लोपोके में मिल गया, परन्तु खाली था। उसके भरने की राह देखने का समय मेरे पास न था, इसलिए मैंने इक्के वाले से कहा कि वह और सवारियाँ न देखे, रास्ते में यदि मिल जायँ तो ले ले नहीं पूरे इक्के के पैसे मैं दे दूँगा।

आश्वस्त होकर इक्केवाले ने लगाम का सिरा हवा में घुमाते हुए टिटकारी भरी। लेकिन अभी घोड़ा हिला भी न था कि गाँव से दो मुसलमान बूढ़ियाँ हाय तोबा मचाती और इक्केवाले को आवाजें देती भागी आयीं। पास आने पर उन्होंने बताया कि उनके लिए इसी घड़ी गाँव से चलना अति-अनिवार्य्य है, कि गाँव का दाना पानी उनके लिए हराम हो गया है, कि इक्के वाला उन्हें ले जायगा तो उसको सवाब (पुण्य) होगा।

इक्के वाले ने मेरी ओर देखा। मैंने कहा, "बैठा लो। पीछे बैठ जायँगी, इक्का भी 'उलार'* न होगा।"

---

* आगे को।

वह बात क्या थी जिसके कारण उन बूढ़ियों के लिए लोपोके का दाना पानी हराम हो गया था, मुझे यह पूछने की जरूरत नहीं पड़ी। इक्के की पिछली सीटों पर आमने सामने बैठते ही उन्होंने कोसनों और गालियों का जो सिलसिला आरम्भ किया, उस से मुझे पता चल गया कि एक बुढ़िया अपने बड़े लड़के के यहाँ किसी उत्सव पर लोपोके गई थी और अपने साथ अपनी खाला-ज़ाद बहन को भी लेती गई थी। अपनी बड़ी बहू के दुर्व्यवहार से तंग आकर वह उत्सव को बीच ही में छोड़, लड़ लड़ा कर चली आई थी और अपनी बहन को भी साथ लेती आई थी। दस मील की यात्रा का एक तिहाई भाग उसने अपने बड़े लड़के और बड़ी बहू को गालियाँ देने में गुज़ारा सास होने के नाते, अपने बेटे और बहू से उसको वही शिकायतें थीं, जो पुरातन काल से कर्कशा और ईर्षालु सासों को होती आई हैं।

फिर जब उसके मन का उबाल कुछ शाँत हुआ तो उसने अपनी उस खाला-ज़ाद बहन को अपनी दुख-गाथा सुनानी आरम्भ की (पहले कितनी बार सुनाई होगी, इसका ब्योरा मेरे पास नहीं है) और मुझे पता चला कि किस प्रकार पति के मर जाने पर उसने स्वयं मेहनत मजूरी करके अपने तीनों बच्चों को पाला......किस प्रकार बड़ा बेटा उस 'कमीनी' बहू के आते ही अलग हो गया...... किस प्रकार उसने अपनी आशाएँ मझले पर केन्द्रित कीं, किन्तु उस बड़े को देख कर वह भी विवाह के पश्चात अलग हो गया...... तब बुढ़िया कई मील तक मँझले लड़के और उसकी बहू को गालियाँ देती रही। अन्त में उसने अपने छोटे लड़के का जिक्र आरम्भ किया कि वह कितना सुशील, समझदार और आज्ञाकारी है खुदा के बाद यदि वह किसी पर यकीन रखता है तो वह उसकी बूढ़ी माँ है। अपने छोटे लड़के के गुणों का बखान करते करते वृद्धा की वाणी की कर्कशता एक विचित्र आर्द्र-तरल स्निग्धता में परिणित हो गई। अपनी मैली ओढ़नी से अपनी नाक साफ़ करते हुए

अन्त में उसने सजल वाणी में कहा कि बस वह तो खुदा से दिन रात ही दुआ करती है कि उसके बच्चे का घर बस जाय तो उसके मन को भी सुख-शान्ति मिले।

उसकी इस आकाँक्षा को सुन कर मैं मन ही मन हँसा। उसका वह सुख-शाँति का अरमान ऐसा था जिसका पूरा होना उस परिस्थिति में नितान्त असम्भव था। निश्चय ही वह तीसरे बेटे का विवाह करेगी, मैंने सोचा, उसी अरमान और चाव से जिसके साथ उसने पहले दो पुत्रों का विवाह रचाया था, परन्तु उसका वह तीसरा पुत्र अपने भाइयों के पद-चिह्नों पर न चलेगा, इसकी कोई सम्भावना न थी, क्योंकि उस बुढ़िया के रहते किसी बहू का उसके घर रहना उतना ही असम्भव था जितना किसी बहू की उपस्थिति में उसका रहना।—उसकी वह आकाँक्षा मुझे मानव की उस छली आकाँक्षा का प्रतीक लगी जो कभी पूरी नहीं होती।

उस यात्रा के बाद इक्के का वह सफ़र, वह बुढ़िया, उसकी बातें, उसकी वह कभी न पूरी होने वाली आकाँक्षा, मेरे मन-मस्तिक में घूमती रही। मेरा विचार उस पर कहानी लिखने का था, परन्तु फिर अपने आस-पास कुछ ऐसे पात्र मिल गये, जिनकी आकाँक्षा भी उस वृद्धा की अभिलाषा की भाँति कभी न पूरी होने वाली थी। तब मैंने उस मूल-भूत विचार में ये नये पात्र फिट कर दिये और 'छठा बेटा,' तैयार हो गया।

मुझे प्रसन्नता है कि इधर हिन्दी रंग-मंच वर्षों की नींद के बाद अँगड़ाई ले रहा है। एकाँकी और पूरे नाटक इधर उधर अभिनीत हो रहे हैं। छठा बेटा एकाँकी नहीं। परन्तु मुझे पूरा विश्वास है कि जब यह खेला जायगा तो पूर्ण-रूप से दर्शकों का मनोरञ्जन करेगा।

५. खुसरो बाग़ रोड
११, १, ५०

उपेन्द्र नाथ अश्क

विवेचन

पाँच अंकों का लम्बा ऐतिहासिक नाटक 'जय पराजय' लिखने के बाद अश्क जी ने लिखा था कि उस तरह का कदाचित् वह उनका पहला और अन्तिम नाटक हो। कारण स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा था कि आज मशीनी युग के व्यस्त जीवन में, न हमारे पास उतने लम्बे नाटक खेलने का अवकाश है, न उन्हें देखने का और नाटक मुख्यतः देखने की ही चीज है और 'जय पराजय' के बाद अश्क जी ने 'स्वर्ग की झलक' लिखा जो ऐतिहासिक ऊहापोह न था, बल्कि एक सीधा-सादा सामाजिक व्यंग्य-नाटक था। अभिनय की दृष्टि से भी उसका डयूरेशन चार या पाँच घंटे न हो कर केवल डेढ़ दो घंटा था।

लेकिन जहाँ तक नाटक की अभिनेयता का सम्बन्ध है, अपने प्रस्तुत नाटक 'छठा बेटा' में अश्क जी 'जय पराजय' और 'स्वर्ग की झलक' से एक पग आगे बढ़े हैं। 'जय पराजय' तो खैर पुरानी शैली का नाटक है—पाँच अंक; प्रत्येक अंक में पाँच-पाँच दृश्य; और संकलन-त्रय रहित (समय, स्थान तथा अभिनय की इकाइयाँ न उस में सम्भव हैं, न अभीष्ट) किन्तु 'स्वर्ग की झलक' में भी, जो आधुनिक शैली का खासा मनोरंजक और संतुलित नाटक है, नाटकीय रचना की उपयुक्त तीनों इकाइयाँ पूर्ण-रूप से सम्पादित नहीं हो पायीं।

प्रस्तुत नाटक 'छठा बेटा' इस दृष्टि से पूर्ण-रूपेण सफल है। एक ही बरामदे में पूरा नाटक खेला जा सकता है। उसकी अवधि भी उतनी ही है। उतनी ही अवधि और केवल उस बरामदे भर स्थान में ही बसन्तलाल, उनके मित्र दीनदयाल, दूर के भाई चाननराम और पंडित जी के छहों बेटों का सम्पूर्ण चित्र उनके पूरे विवरण (details) के साथ अत्यंत सफलतापूर्वक उपस्थित कर दिया गया है।

हिन्दी में इस ढंग के और नाटक न हों, यह बात नहीं। काट-छाँट कर वे रंगमंच पर खेले जाने योग्य भी बनाये जा सकते हैं, परन्तु उन के सम्बन्ध में सब से बड़ी शिकायत यह है कि पढ़ कर उनसे आनन्द नहीं उठाया जा सकता। [पृथ्वीनाथ शर्मा के 'दुविधा' 'अपराधी' आदि; सेठ गोविन्ददास के 'दलित कुसुम', 'कर्त्तव्य', 'कुलीनता' आदि; पं० लक्ष्मीनारयण मिश्र के 'आधी रात', 'सिन्दूर की होली' इसी प्रकार के नाटक हैं। गोविन्द वल्लभ पंत के नाटक 'वरमाला', 'राजमुकुट', 'अंगूर की बेटी' अपवाद हैं।] इसके विपरीत 'छठा बेटा' पूर्णतया अभिनेय तो है ही, साथ ही इस में यह गुण भी विद्यमान है कि यह जैनेन्द्र जी के शब्दों में 'सुपाठ्य' भी है—अर्थात् इसे आप एक रोचक कहानी की तरह रसपूर्वक, बिना ऊबे, पढ़ सकते हैं और उतना ही आनन्द प्राप्त कर सकते हैं, जितना शायद आप इसे देख कर प्राप्त करते। और यह लेखक की बहुत बड़ी सफलता है कि उसका नाटक उपर्युक्त दोनों बाँके-तिरछे गुण पूरी मात्रा में अपने अन्दर रखता है।

इस सम्बन्ध में थोड़ा और आगे बढ़ते हुए मैं यह बात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि एक सफल अभिनेय नाटक (या अधिक प्रचलित शब्दों में 'रंगमंच पर जमने वाले नाटक') के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह पढ़ने में भी उतना ही रोचक और सुन्दर हो। इस प्रकार के नाटक की पांडुलिपि ऐसी भी हो सकती है कि आप यदि उसे पढ़ने बैठें तो शायद एक पृष्ठ के आगे ही न पढ़ पायें। अपनी बात की पुष्टि के लिए मैं श्री बलराज साहनी द्वारा लिखित और निर्देशित नाटक 'जादू की कुर्सी' का उल्लेख करूँगा। जिन्होंने यह नाटक देखा है, वे इस बात से तो इनकार न कर सकेंगे, कि राजनीति को छोड़ें तो, अभिनय तथा कला की दृष्टि से यह एक अत्यंत सफल नाटक है और आदि से अन्त तक दर्शकों को अपनी ओर आकर्षित रखता है। किंतु इस नाटक की पांडुलिपि में वह आकर्षण नहीं। ठहाका तो दूर रहा, ओठों पर मुस्कराहट

तक नहीं आती। बहुत सी बातें, जो श्री बलराज ने अपने अभिनय द्वारा पैदा की हैं, उनका पांडुलिपि में कोई आभास तक नहीं है। 'जादू की कुर्सी' अभिनय की दृष्टि से कितना भी सफल और मनोरंजक क्यों न हो, सुपाठ्य नहीं—'सिविक लिबर्टी' और 'सिविल लिबर्टी' को 'सिवि—क लिबर्टी' और 'सिवि—ल लिबर्टी' कह कर श्री बलराज ने बार-बार लोगों को हँसाया, पर मसौदे में 'सिवि—क लिबर्टी' और 'सिवि—ल लिबर्टी' किसी प्रकार का हास्य उत्पन्न नहीं करते। यही हाल अधिकांश सम्वादों का है। जिन सम्वादों को अपने अद्वितीय ढंग से अदा करके श्री बलराज ने जनता को हँसा कर लोट पोट कर दिया, वे अपने में विरस और सपाट हैं।

लेकिन 'छठा बेटा' ऐसा नाटक नहीं। वह रङ्ग-मञ्च की दृष्टि से भी सफल है और अपने लिखित रूप में भी आपका पूरा-पूरा मनोरंजन करने में समर्थ है। वह बहुत कुछ शॉ, मॉहम, वाइल्ड, बैरी आदि के नाटकों जैसा है, जो दुधारी तलवार हैं—पढ़े जाने पर भी तेज, पैने व अचूक और खेले जाने पर भी। श्री बलराज साहनी के नाटक की तरह इसका लिखित संस्करण कमजोर नहीं है।

इस साफल्य की प्राप्ति के लिए अश्क जी ने अपने तरकस के सभी अचूक तीर छोड़े हैं—प्रारंभिक पकड़, हास्य-व्यंग्य, चरित्र-चित्रण, संवाद, कहानी, नाटकीयता और आकस्मिक समाप्ति। और यही कारण है कि कुल मिला कर यह नाटक, नाटकीय-कला-कौशल की एक अपूर्व कृति हो गया है।

नाटक प्रारम्भ होते ही शिथिल और ऊबा देने वाली चाल से नहीं चलता बल्कि बहुत शीघ्र गति पकड़ लेता है। नाटक की इस प्रारम्भिक पकड़ में, अश्क जी 'स्वर्ग की झलक' की अपेक्षा 'छठा बेटा' में अधिक सफल हुए हैं। दर्शकों (या पाठकों) के ध्यान को अपनी ओर आकर्षित कर नाटक क्षिप्र-गति से आगे बढ़ता जाता है। कहीं रुकता, उलझता या ठहरता-सा प्रतीत नहीं होता। नाटक के आरम्भ होते ही हम नाटकीय

कार्य-व्यापार और पात्रों के साथ आगे बढ़ते चले जाते हैं।

रहा हास्य-व्यंग्य तो यह क्षेत्र अश्क जी का अपना क्षेत्र है। उनके एकांकी नाटक 'जोंक,' 'आपसी समझौता,' 'चमत्कार,' 'तौलिए,' 'अंजो दीदी,' उच्च कोटि का हास्य प्रस्तुत करते हैं; 'अधिकार का रक्षक,' 'बहनें,' 'विवाह के दिन,' 'भँवर' में व्यंग्य का जबर्दस्त पुट है।

लेकिन इन नाटकों और 'छठा बेटा' में, हास्य-व्यंग्य की दृष्टि से बहुत बड़ा अंतर है। एक साथ इतना अधिक हास्य अश्क जी ने अपने किसी नाटक में प्रस्तुत नहीं किया। नाटक के आरम्भ से ही धीरे-धीरे हास्य की अवतारणा शुरू हो गयी है। आरम्भ में रङ्ग-मञ्च निर्देश की सूचनाएँ हल्के से व्यंग्य का पुट लिए हुए हैं। डाक्टर हंसराज जब कहते हैं, 'मैं डाक्टर हूँ, मेरी पोजीशन है' तो उसके पहले ब्रैकेट में लिखा है (जैसे वे डॉक्टर विधानचन्द्र राय से क्या कुछ कम हैं); जब गुरु अपने बाप की आलोचना करता हैं, 'वे मूँछें रखते हैं जिन पर नींबू टिक सके और ऐसा भी मालूम नहीं होता कि दैव ने उन्हें कभी पैदा भी किया था......' तो चचा चाननराम हँसते हैं। ब्रैकेट में लिखा है('तुम अपने बच्चे हो, तुम्हारी यह चंचलता क्षम्य है,' के से भाव हैं) देव की हँसी की उपमा 'शरद् के पीले-से सूरज की हँसी' से दे कर उस गरीब क्लर्क की जिन्दगी और उसकी थकन को व्यक्त कर दिया है। कैलाशपति के सम्बन्ध में लिखा है, 'कैलाश के पति में और इन में इतना ही अन्तर है कि यह तीसरी आँख से नहीं देखते' फिर जब पंडित बसन्तलाल के नाम तीन लाख की लाटरी आ जाती है तब डॉ० हंसराज के विनम्र खुशामदी भाव का खाका इन सुन्दर शब्दों में खींचा है—'सामने कुर्सी पर डॉ० हंसराज बैठे हैं और आकृति उनकी उस कुत्ते की सी बनी हुई है जो मालिक को खाना खाते देख कर दुम हिलाता हुआ, विनम्र, खुशामदी, लालसा भरी दृष्टि से तकता हुआ, घुटने टेक कर बैठ जाता है कि तनिक मालिक का ध्यान हो तो दुम हिलाये। उसमें और

इनमें अन्तर मात्र इतना ही है कि इनके दुम नहीं जिसे ये हिला सकें।'

ये और रंचमंच-निर्देश की अन्य सूचनाओं में ऐसे अनेक स्थल अनायास ही हमारे ओठों पर मुस्कराहट की रेखाएँ दौड़ा देते हैं। ये मुस्कराहट की रेखाएँ संवादों तक पहुँचते-पहुँचते हँसी का रूप धारण कर लेती हैं। और अभिनय-स्थलों पर पहुँचकर तो दर्शक ठहाके मारे कुर्सियों से उछल पड़ते हैं। नाटक में ऐसे संवाद तथा अभिनय स्थलों की कमी नहीं।—आरम्भ में जब पाँचों बेटे अपने पिता को अपने पास रखने में असमर्थता प्रकट करते हैं और उनके बड़े बेटे डा० हंसराज खीजते हैं कि पिता जी को आटा लाने के लिए दस का नोट क्यों दिया गया. कि उनके पिता पंडित वसन्तलाल नशे में धुत्त होकर, आटे के बदले लाटरी का टिकट खरीद लाते हैं और डॉक्टर साहब अपनी पत्नी पर झल्लाते हैं कि उसने उन्हें दस का नोट क्यों दिया—लेकिन जब उसी टिकट के कारण लाटरी आ जाती है, कमला सादगी से कहती है—'वे रुपये तो हमारे थे, लाटरी का रुपया तो हमें मिलना चाहिए।' और डाक्टर साहब विवशता से उत्तर देते हैं—'पर डरबी वाले तो यह बात नहीं जानते!' फिर राय साहब चम्पाराम वाला किस्सा; दीनदयाल का पंडित जी के जोर देने पर शराब का गिलास खाली करके रुमाल से मुह साफ करके कहना, 'तुम्हें तो पता है, मैं रवि और मंगल के दिन नहीं पीता' और इस पर पंडित वसन्त लाल का अपने लड़कों को सुना कर कहना, 'और यह कम्बख्त कहते हैं कि तुम शराबी हो, देखो कितना संयम है दीनदयाल में! यह रवि और मंगल के दिन नहीं पीता. यह इस युग का राजा जनक है।' ये और अन्य कई ऐसे प्रसंग हमें हँसने पर विवश कर देते हैं। साथ ही हमें लेखक की उस बारीक नजर का भी कायल होना पड़ता है जो इस मशीनी-युग के तलख और संघर्षमय व्यस्त जीवन के अन्दर भी ऐसे हास्यपूर्ण प्रसंग ढूँढ़ लाती है.....और इन सब प्रसंगों के ऊपर देव, कैलाश आदि को घुटे सिर व खड़ी चोटी लिये रंगमंच पर प्रवेश करते देख हम खिलखिलाये बिना नहीं रह सकते।

और जब सिर घुटाये व जांघिया पहने, तेल की मालिश से शरीर चमकाये नाजुक कवि हरेन्द्र और भावी आई० सी० एस० गुरु रंगमंच पर आते हैं तो फिर हँसी का तूफान बरपा हो जाता है। उसके बाद उसी धजा में उन लोगों को, दौड़ कर चिलमें भरते हुए, पंडित जी से पंजा लड़ाते हुए, झुक कर शराब के गिलास पकड़ाते हुए, पंडित जी की 'हाँ' में बड़े हास्यास्पद तौर पर 'हाँ' मिलते हुए, और (अपने सिद्धान्तों के विरुद्ध) चचा चाननराम के पाँव छूते हुए देख कर तो कुर्सी पर बैठे रहना मुश्किल हो जाता है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से, जैसा कि मैंने पहले कहा, अश्क जी ने पंडित बसन्तलाल, डा० हंसराज और माँ के चरित्र अत्यन्त सुलझे रूप से पेश किये हैं। यह बात नहीं कि शेष चार भाइयों, चचा चाननराम और कमला के चरित्रों की लेखक ने नितान्त उपेक्षा की है—उन्हें भी अपने ब्रश के चन्द हलके स्पर्शों से स्पष्ट कर अश्क जी ने अन्त तक निभाया है, किन्तु पहले चार पात्रों के साथ उन्होंने अधिक श्रम किया है और अधिक बारीकी से काम लिया है। अपने उपन्यास 'गिरती दीवारें' में भी अश्क जी ने शराबी पिता का चरित्र उपस्थित किया है, किन्तु वह चरित्रांकन इतना सुन्दर और सुघड़ नहीं हो पाया जितना 'छठा बेटा' के शराबी पिता का। गिरती दीवारें का शराबी पिता क्रूर है, लेकिन 'छठा बेटा' का शराबी पिता शराबियों के समस्त गुण-दोषों से युक्त है। वह क्रूर भी होगा (हालाँकि प्रस्तुत नाटक में उसकी क्रूरता का कोई उदाहरण नहीं मिलता) लेकिन शराबी की उदारता, सहृदयता, भावुकता, रुपया उड़ाने की क्षमता और मस्ती पूरे तौर पर चरित्र में विद्यमान है। पंडित बसन्त लाल का चरित्र ऐसा खरा, सुन्दर और सहानुभूतिपूर्ण उतरा है कि अश्क जी को दाद देने को जी चाहता है। फिर ऐसे शराबी का अन्त सामने है।

समय-साधक मित्र के रूप में (जो साधारणतः शराबियों के साथ लगे रहते हैं) दीनदयाल का चरित्र अत्यन्त यथार्थ है। उनके अनुमान

(Calculations) बहुत सच्चे हैं। मानव-हृदय का तथा उसके मनोविज्ञान का इतना गूढ़ अनुभव यदि अश्क जी को न होता तो कदाचित् वे चित्रों में इतना वास्तविक रंग न भर सकते। ऐसे चरित्र-चित्रण केवल कल्पना ही के बल पर नहीं किये जा सकते।

रही माँ, तो शायद नाटककार की समवेदना सबसे अधिक उसी को मिली है। केवल यही एक पात्र है जो नाटक के हास्य में गम्भीर्य की रेखा खींचता चला जाता है। अंत के दृश्य में तो माँ की व्यथा अनायास हृदय को छू लेती है।

संवाद लिखने में अश्क जी को कमाल हासिल है, यह बात मैं फिर दोहराना चाहूँगा। 'छठा बेटा' के सम्वाद बेजोड़ हैं। उनके कारण पात्रों का चरित्र-चित्रण अधिक निखर गया है। साथ ही हास्य-रस के प्रतिपादन में भी उन्होंने पूरी सहायता की है। संवाद अत्यन्त स्वाभाविक, रोचक, चुटीले और गतिशील हैं। संवादों की चुस्ती और उनके अन्दर निहित वाक्-वैदग्ध्य ही के कारण नाटक में अपूर्व गति है और वह कहीं रुकता-सा दर्शकों को उँघाने वाला नहीं सिद्ध होता है।

लेकिन सम्वाद चरित्र-चित्रण और अभिनय-स्थल जिस ढाँचे को पुष्ट करते हैं, उसकी बनावट में भी लेखक ने चतुराई से काम लिया है। कथानक की दृष्टि से देखा जाय तो यह पूरा का पूरा नाटक इल्यूजन (illusion) है। यथार्थ-जीवन में बहुत ही कम ऐसा होता है कि किसी व्यक्ति को तीन लाख की लाटरी मिल जाय; तब उसके पुत्र गिरगिट की तरह थोड़ी देर के लिए रङ्ग बदल दें; फिर पिता से रुपया झटक कर पूर्ववत हो जायँ। लेकिन ऐसा हो सकता है; नाटक में वर्णित घटनाएँ सम्भव हो सकती हैं - यह बात निर्विवाद है और मानव की सहज-स्वार्थ-भावना को लक्षित करती हैं। उसमें अतिरंजना हो सकती है, (जो हास्य के लिए जरूरी है) पर वह आधार-भूत सचाई को नहीं झुठलाती। अश्क जी कथानक की इस कमजोरी को जानते थे। इसी कारण उन्होंने अत्यन्त चतुराई से कथा के प्रमुख-अंश को स्वप्न

का रूप दे डाला और नाटक को इस कमजोरी से मुक्त कर दिया। अब नाटक की कथा असम्भव नहीं लगती, क्योंकि वह स्वप्न में घटती है। और स्वप्न प्रायः इस प्रकार के भी होते हैं, बल्कि इस से भी अजीबो-गरीब तक होते हैं। पंडित बसन्तलाल का इस प्रकार का स्वप्न देखना तनिक भी अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होता।

विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखने पर यह चीज भी स्पष्ट हो जाती है कि पंडित बसन्तलाल का स्वप्न में अपने छठे बेटे की वापसी देखना उनके अवचेतन मन की इच्छाओं का अमूर्त रूप है। जीवन में जिन वस्तुओं अथवा प्रिय-व्यक्तियों को पाने की इच्छा प्रायः हमारे अवचेतन मन में दबी छिपी रहती है, हमारे स्वप्नों में वे ही वस्तुएँ अथवा व्यक्ति प्रायः अपने धुँधले रूप में हमारे सम्मुख आ उपस्थित होते हैं और हमें ऐसा भास होने लगता है, जैसे हम ने उन्हें सचमुच ही छिपा लिया है। अपने छठे बेटे दयालचन्द द्वारा सुख-प्राप्ति की अतृप्त इच्छा पंडित जी के अवचेतन मन में छिपी हुई थी। वही इच्छा अमूर्त रूप में स्वप्नद्वारा साकार होकर थोड़ी देर के लिए पंडित जी को वह सुख पहुँचा देती है जिसकी आकांक्षा पंडित जी को अपने यथार्थ जीवन में थी। और पंडित जी को (स्वप्न में ही सही) वह सुख मिल जाता है, जो उन्हें जीवन में कभी न मिल सकता था; क्योंकि दयालचन्द यदि लापता न भी होता और बराबर उनके सामने ही बना रहता, तो वह भी अंत में अपने अन्य भाइयों की तरह अपने पिता की ओर से मुँह मोड़ लेता और पुत्रों की इस उपेक्षा के उत्तरदायी पंडित बसन्तलाल स्वयं ही हैं। वे कुछ ऐसे बेढब आदमी हैं; और उनकी आदतें इतनी विचित्र तथा दूसरों को परेशान व अपमानित करने वाली हैं कि कोई भी सभ्य और इज्जतदार व सचेतन पुत्र उन्हें अपने साथ नहीं रख सकता, चाहे दिल में वह उन्हें कितना प्यार क्यों न करता हो। छठा बेटा दयालचन्द भी उनकी अनियंत्रित और विचित्र ढंग की 'सभ्य आदतों' से बहुत शीघ्र उकता जाता और अपने भाइयों

की तरह स्पष्ट कह देता कि मैं 'पिता जी के साथ एक मिनट तो क्या एक सेकेंड भी नहीं रह सकता !' लेकिन क्योंकि दयालचन्द सामने नहीं है, इस कारण पंडित बसन्तलाल अपने अवचेतन मन में इस विचार को सेये हुए हैं कि यदि उनका छठा बेटा होता तो वह अवश्य उनकी सेवा करता। जब कि यथार्थ में यह बात नहीं है। सूक्ष्म हेत्वाभास (Subtle fallacy) ही इस नाटक का आधारभूत-तत्व है। छठा बेटा मानव की उस आकांक्षा का प्रतीक है जो कभी पूरी नहीं होती।

अश्क जी बहुत सतर्क कलाकार हैं। उनकी रचना में लापरवाही या 'टालने का भाव' कहीं भी नहीं दीख पड़ता। अपने आलोचकों को उँगली उठाने का अवसर वे कहीं भी नहीं देना चाहते। प्रस्तुत नाटक में भी उन्हें यह ध्यान बराबर है कि कथानक का मुख्य भाग पंडित जी के स्वप्न के रूप में रंगमंच पर उपस्थित किया जा रहा है और वे इस बात को भी जानते हैं कि स्वप्न कभी स्पष्ट और क्रमपूर्ण नहीं होता, बल्कि हमेशा धुँधला (Vague) और अस्पष्ट-सा होता है। कहीं पर बहुत चटक और कहीं अत्यन्त 'आउट आफ फोकस'। रंगमंच टेकनीक का भी उन्हें अपने आलोचकों से अधिक ज्ञान है। और यही कारण है कि उन्होंने नाटक का अन्तिम दृश्य छायाओं के रूप में उपस्थित किया है। क्योंकि स्वप्न बराबर जारी है और अब समाप्ति पर है, इस कारण वह धुँधला और अस्पष्ट-सा पड़ने लग जाता है। व्यक्ति नहीं, बल्कि छाया-मूर्तियाँ अब स्वप्न में घूमने-फिरने लगती हैं और केवल उनके स्वर से ही अनुमान किया जा सकता है कि यह अमुक-अमुक व्यक्ति हैं। अश्क जी के इस अपूर्व नाटकीय-कौशल (Stage craft) पर उन्हें बधाई देने की इच्छा होती है। हिन्दी नाटकों में यह अपने ढंग का एक नवीन प्रयोग है।

नाटक इस छाया-मय कथा, उसे पुष्ट करने वाले हास्य व्यंग्य-पूर्ण सम्वादों तथा अभिनय-स्थलों के बल पर बड़ी तेजी से चलता हुआ हमारी उत्सुकता को चरम-विन्दु पर ले जाकर अत्यन्त अप्रत्याशित रूप से

समाप्त हो जाता है। एक बार हमें आघात सा लगता है। फिर एक लम्बी साँस कुछ सुख की, कुछ दुख की—हमारे अन्तर की गहराई से निकल जाती है और हम तरह तरह से सोचते हुए घर चले आते हैं। पंडित बसन्त लाल अथवा उनके पुत्रों की समस्या एक न एक रूप में हमें अपनी समस्या लगती है और यही मेरे विचार में लेखक की सबसे बड़ी सफलता है।

यों 'छठा बेटा' का एक सुनिश्चित रूप है। ब्लाटिंग पर फैली स्याही की बूंद की तरह उसका खाका नहीं है। उसका चित्र बन सकता है। उसमें आरम्भ, गति, संघर्ष, क्लाइमेक्स—नाटकीय कार्य-व्यापार की सभी अवस्थाएँ पायी जाती हैं।

'छठा बेटा' के बाद अश्क जी ने और भी अधिक प्रौढ़ और सशक्त नाटक 'आदि-मार्ग', 'अंजो दीदी', 'भँवर', 'कैद उड़ान', आदि लिखे हैं, किंतु जहाँ तक हास्य और गाम्भीर्य के सम्मिश्रण का प्रश्न है, उनकी प्रतिभा 'छठा बेटा' को नहीं छू सकी है।

१६ पार्क रोड

इलाहाबाद सत्येन्द्र शरत्

दिसम्बर २३ – ४८

छठा बेटा

पात्र

पं० बसन्त लाल—रेलवे के रिटायर्ड पदाधिकारी

डाक्टर हंसराज हरिनाथ (हरेन्द्र) देवनारायण कैलाशपति गुरु नारायण दयालचन्द	पंडित बसन्त लाल के छै लड़के

माँ	पंडित बसन्त लाल की पत्नी
कमला	पंडित जी की बहू, डाक्टर हंसराज की पत्नी
दीनदयाल	पंडित जी का मित्र
चाननराम	दूर के रिश्ते में पंडित जी का भाई
हरचरण मुंडू	नौकर

[डा० हंसराज का मकान (जो वास्तव में डा० हंसराज का किराये का मकान है,) कुछ इतना बड़ा नहीं। पूरा मकान भी यह नहीं। एक बड़ी इमारत का केवल एक भाग है--तीन कमरे हैं (यद्यपि शब्द 'कमरे' उन १२×११ फुट की दो, तथा १०×८ फुट की एक कोठरी के लिए अधिक आदर-सूचक प्रतीत होता है।) एक स्नान-गृह है (जो सीढ़ियों के नीचे बच जाने वाली छोटी-सी जगह में, तखता रूपी किवाड़ लगा कर बना दिया गया है और जहाँ नहाने में दक्ष होने के लिए कुछ दिन अभ्यास करना अनिवार्य है।) इसी स्नानगृह के साथ छोटा सा रसोई-घर है—बस यही साढ़े तीन अथवा पौने चार कमरे डा० हंसराज के इस मकान में हैं।

ऐसे ही चार भाग इस इमारत में और हैं। पूंजीवादी मनोवृत्ति से विपन्न-कृषकों को बचाने के लिए, जब पंजाब सरकार ने साहूकार-बिल की कैंची का आविष्कार किया और चाहे अस्थायी रूप ही से हो, किसानों के फंदे काट दिये, तो उस मनोवृत्ति ने नये फंदे ढूंढ़ निकाले। यद्यपि इन फंदों के शिकार अब कृषक न होकर निम्न-मध्य वर्ग के नागरिक थे। इन्ही फंदों को मध्यवर्गीय शिक्षित समुदाय की भाषा में पोशन्ज (Portions) अर्थात् बड़ी इमारतों के किराये पर चढ़ाये जाने वाले भाग कहा जाता था। और पंजाब की राजधानी में ऐसी इमारतों की कमी न थी, जिन में ऐसे दस दस फंदे निर्मित थे।

पर्दा डा० हंसराज के मकान, अर्थात् पोर्शन के बरामदे में खुलता है। बरामदा भी इस पोर्शन के अनुरूप ही है। रसोई-घर तथा स्नान-गृह इस के दायीं ओर को हैं, सामने १२×११ फुट के दो कमरे हैं, जिन का एक एक दरवाजा बरामदे में खुलता है। इन दोनों सामने के कमरों में से दायें हाथ के कमरे और स्नान-गृह के मध्य एक मार्ग है, जो इमारत के दूसरे पोर्शनों के पास से होता हुआ इमारत के बड़े दरवाजे को जाता है। १२×८ फुट का कमरा बरामदे के बायीं ओर को है, और आजकल वह डा० साहब के सब से छोटे भाई गुरु की अध्ययनशाला का काम दे रहा है। रसोई-घर का और इस का दरवाजा आमने सामने है।

यह बरामदा घर में एक महत्व का स्थान रखता है और प्रायः इस से खाने, बैठने और सोने के कमरों का काम

लिया जाता है। बरामदा डाइनिंग रूम है—इस का प्रमाण रसोई-घर से तनिक हट कर बिछी हुई दो चटाइयाँ देती हैं, जिन पर घर के सब लोग बैठ कर अपनी बारी से खाना खाते हैं, किन्तु जिस पर इस समय (मैदान खाली देख कर) गणेशवाहन श्री मूषक जी महाराज मटरों अथवा टमाटरों पर दाँत तेज कर रहे हैं। ड्राइंग रूम अर्थात् बैठने के कमरे के नाते एक बैंत का हलका सा मेज और बैंत ही की दो कुर्सियाँ बरामदे के मध्य पड़ी हैं। मेज पर एक कलम-दवात भी रखी है। स्लीपिंग रूम—सोने के कमरे—के नाम पर तनिक बायीं ओर को हट कर, गुरु के कमरे के समीप, एक चारपाई बिछी हुई है।

समय क्या है, इस का अनुमान ही लगाया जा सकता है। बात यह है कि अपने समस्त महत्व के होते इस बरामदे को अभी तक एक क्लाक भी प्राप्त नहीं हुआ और जो छोटा टाइमपीस गुरु की अध्ययनशाला में मेज पर टिक-टिक किया करता है, उस की आवाज यहाँ सुनायी नहीं देती। इसलिए समय का पता रसोई-घर से आने वाली सुगंधि, अथवा मेज कुर्सियों से लेकर चारपाई तक एक बड़ी सी तिकोन बनाने वाली धूप ही से लगाया जा सकता है।

लेकिन फरवरी का आरम्भ है, इसलिए धूप पर विश्वास नहीं किया जा सकता है। दिन बड़े हो रहे हैं, जहाँ धूप आने पर पहले दस बजते थे, अब वहाँ आठ बजे ही धूप आ जाती है, इसलिए इस ओर से निराश होकर हमें रसोई-घर की ओर नाक तनिक फुला कर

सूंघने का प्रयास करना होगा। पकती हुई सब्जियों की सुगंध धूप की पार्श्व-भूमि के साथ बता रही है कि अभी नौ, पौने नौ से अधिक समय नहीं हुआ।

बरामदे में इस समय निस्तब्धता छाई हुई है। वास्तव में आज गुरु की पहली दो घंटियाँ खाली हैं और वह अपने कमरे में अध्ययन कर रहा है, नहीं तो इस समय तक वह आकाश-पाताल एक कर दिया करता है और बेचारे बरामदे के फर्श को, जो अहिंसा के मामले में सोलहों आने महात्मा गांधी का अनुयायी है, कई बार उसके पदप्रहार, अथवा यों कहिए कि बूटप्रहार को सहन करना पड़ता है। डाक्टर साहब भी, जो इससमय तक— "मैं कहता हूँ, मैंने एक पेशेंट को समय दे रखा है'; "कभी समय पर खाना मुझे मिलेगा या नहीं" अथवा "जल्दी करो नहीं तो बिना खाये मैं चला जाऊंगा" आदि वाक्यों के गोले रसोई-घर पर बरसाते हुए बरामदे में घूमा करते हैं इस समय इमारत के बाहर चचा चाननराम के साथ घूम रहे हैं। चचा चाननराम डाक्टर साहब के सगे चचा तो नहीं, शरीके में से हैं, लेकिन अपना कोई चचा न होने से डाक्टर साहब और उनके सब भाई उन्हें चचा ही सा मानते हैं। इसीलिए उन पर अपना कुछ अधिकार समझते हुए, एक विशेष मिशन को लेकर वे उनके पास आये हैं और उन्हीं की खातिर डाक्टर साहब ने नौकर को दुकान पर भेज दिया है कि यदि कोई रोगी आ जाय तो उन्हें तत्काल सूचित किया जाय।

बरामदे में निस्तब्धता ऐसी है कि चटाई पर 'किट-किट' करते हुए चूहे की आवाज़ साफ़ सुनाई देती है। इस निस्तब्धता को हम उत्सुकता भरी निस्तब्धता कह सकते हैं। ऐसा मालूम होता है कि बरामदे के स्तम्भ, मेज़, कुर्सियाँ, चारपाई, यहाँ तक कि धूप भी कुछ सुनने के लिए उत्सुक है, दर्शकों की उत्सुकता भी, लगता है क्रोध की सीमा को पहुँचा चाहती है, इसीलिए शायद डाक्टर हंसराज चचा चाननराम के साथ इस निस्तब्धता और उत्सुकता को मिटाते हुए, स्नानगृह के पास वाले दरवाज़े से बातें करते करते दाखिल होते हैं।

डा० हंसराज : ये सौगंधें! (व्यंग से हँसते हैं) भूले से कही गई बात का इनसे अधिक मोल होता है।

चाननराम : मुझ से उन्होंने प्रण किया था।

डा० हंसराज : (व्यंग से) सौगंध भी खाई होगी।

चाननराम : (चुप!)

(चारपाई पर जाकर बैठ जाते हैं।)

डा० हंसराज : (दोनों हाथ कमर पर रख कर शब्दों पर जोर देते हुए) यही तो मैं कहता हूँ। जब पहले के प्रण और सौगंधें अभी तक पालन की बाट देख रही हैं तो ये कब पूरी होंगी।

[हँसते हैं और जैसे उन्होंने इस बात से चचा को निरुत्तर कर दिया हो, आराम से कुर्सी पर बैठ जाते हैं और टाँगें मेज़ पर रख लेते हैं।]

चाननराम : (जो चचा हैं, आख़िर यों हारने वाले नहीं) **पर भाई, समय भी तो अब बदल गया है।**

डा० हंसराज : (बेपरवाही से सिर हिलाकर, जैसे इस बात का उत्तर तो गढ़ा-गढ़ाया है) **पर स्वभाव तो समय के साथ नहीं बदलता।**

[जिनकी प्रतिज्ञाओं, सौगंधों और स्वभाव का ज़िक्र हो रहा है, वे इन डा० हंसराज के पिता पंडित बसन्तलाल के अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं। अभी-अभी वे रिटायर हुए हैं और पाँच छै सहस्र का ऋण चुका कर प्राविडेंट फंड से जो रुपया बच गया था, वह दो चार सप्ताह ही में उन्होंने सट्टे, जुए और शराब की भेंट कर दिया है और गुरदासपुर छोड़ कर यहाँ अपने बड़े लड़के के पास आ गये हैं। जीवन में दूरदर्शिता किस चीज़ का नाम है; यह उन्होंने कभी नहीं जाना। छै जिसके लड़के हों, उसे भविष्य की चिन्ता हो, इससे विचित्र बात वे और कोई नहीं समझते रहे। बड़े गर्व से, सीना फुला कर, वे मित्रों के सामने सदैव कहते आये हैं कि यदि हरेक लड़का दिन भर टोकरी ढोकर भी एक रुपया साँझ को कमा लायेगा तो छै रुपये हो जायँगे, फिर मैं क्यों चिन्ता करूँ? लड़कों के टोकरी ढोने की नौबत नहीं आई, क्योंकि

किसी न किसी प्रकार अपने पिता की मद्यपता के होते हुए भी उन्होंने शिक्षा प्राप्त कर ली है। डा० हंसराज सब से बड़े हैं और डाक्टर हैं। दूसरे सुपुत्र लेखक हैं—एक छोटा-सा प्रेस तथा मासिक पत्र चला रहे हैं, नाम हरिनाथ है किन्तु हरेन्द्र कहलाना अधिक पसन्द करते हैं। तीसरे देवनारायण, छावनी के डाकखाने में काम करते हैं। चौथे अबोहर में टिकट-क्लक्टर लगे हुए हैं। नाम कैलाशपति है। कैलाश के पति और इनमें इतना ही अन्तर है कि ये तीसरी आँख से नहीं देखते। पाँचवाँ गुरु है, बी० ए० में पढ़ता है। परिश्रमी है और उसके बड़ा आदमी बनने के स्वप्न सब लिया करते हैं। डा० हंसराज, किसी आगामी सहायता के विचार से नहीं तो इसी खयाल से कि वे अपने रोगियों के सामने इस बात का उल्लेख बड़े गर्व-स्फीत स्वर में कर सकेंगे कि वह जो सबजज या मैजिस्ट्रेट या डिप्टी है, मेरा ही भाई है, मैंने ही उसे पढ़ाया है, अपने इस पोर्शन का १०×८ फुट का वह कमरा उसे दिये हुए हैं और उसके खाने का खर्च भी सहन किये जा रहे हैं। छठा और सबसे छोटा लड़का पिता के व्यवहार से तंग आकर जो भागा तो उसने चार वर्ष से कोई खोज खबर नहीं दी। दो चार गालियों के साथ—'वह साला मेरा लड़का ही नहीं'—इतना कह देने के सिवा, पिता ने उसका कभी जिक्र नहीं किया। भाई भी लगभग उसे भूल चुके हैं, इसलिए कि यदि वह होता तो उसकी पढ़ाई आदि की व्यवस्था भी उन्हें ही करनी होती (और यदि अब वह कहीं आ जाय तो डा० साहब तो इतने प्रसन्न हों कि एक

दिन उनके घर खाना न पके) हाँ, माँ कभी-कभी रो लिया करती है। नाम भी भला-सा था—दयालचन्द या कृपालचन्द, किन्तु इन पाँच वर्षों में घर वालों को वह भी भूल-सा गया मालूम होता है।—इसलिए दयालचन्द को (क्योंकि उसका कुछ पता नहीं) छोड़ कर शेष सब टोकरी नहीं ढो रहे, परन्तु उनके पिता को चिन्ता अवश्य करनी पड़ रही है और चचा चाननराम उनकी ही सिफ़ारिश करने आये हैं—रिटायर हो गये हैं, पास पैसा नहीं रहा। अब कहाँ रहें, यह समस्या है। चचा चाननराम का विचार है कि डाक्टर साहब के पास ही उनका रहना श्रेयस्कर है, क्योंकि गुरदासपुर में रहेंगे तो उनके मित्रादि आ मिलेंगे, यहाँ रहेंगे तो कुछ सुधरे रहेंगे। परन्तु डाक्टर साहब ने टाँगें हिलाते-हिलाते निर्णय कर लिया है और वह निर्णय चचा चाननराम को सुनाने के लिए टाँगें नीचे करके वे उठकर बैठ गये हैं।]

डा० हंसराज : देखिए चचाजी, मैं डाक्टर हूँ। मेरी पोजीशन है। मेरे यहाँ बड़े-बड़े पदाधिकारी आते हैं। पिता जी की गुज़र यहाँ न होगी। तीन चार दिन उन्हें यहाँ आये हुए हो गये हैं और इस बीच में मेरी रात की नींद हराम हो गई है और मैं सोचने लगा हूँ कि यदि कुछ देर और वे मेरे पास रहे तो मेरी सब प्रेक्टिस चौपट हो जायगी। भाग्य से आज आप आ गये हैं।

देव और गुरु भी यहीं हैं, हरेन्द्र को मैंने बुलवा भेजा है। कैलाश किसी समय भी पहुँच सकता है। कल उसका पत्र आया था कि वह कल प्रातः की गाड़ी से आयगा (कलाई पर घड़ी देखते हुए) गाड़ी कब की स्टेशन पर पहुँच चुकी होगी और......

चाननराम : परन्तु........!

डा० हंसराज : परन्तु नहीं चचा जी। इस बात का निर्णय आज हो ही जाना चाहिए। मैं अपने उत्तरदायित्व से कभी न काटूँगा, किन्तु मेरे यहाँ सदैव के लिए उनका रहना नहीं हो सकता।

चाननराम : आखिर...वह......

डा० हंसराज : (जैसे वे डा० विधानचन्द्र राय से क्या कुछ कम हैं) मैं डाक्टर हूँ! मेरी पोजीशन है। मेरे यहाँ बड़े बड़े पदाधिकारी आते हैं। मैं वेटिंगरूम में तिनका तक तो रहने नहीं देता (खड़े हो जाते हैं।) और ये कीचड़ भरे जूते लिये आ जाते हैं।

[दोनों हाथ पतलून की जेबों में डाले कुर्सी से चटाई तक और चटाई से कुर्सी तक एक चक्कर लगाते हैं—फिर रुक कर]

—: मैं नौकर तक को मैले कपड़े पहन कर दुकान में आने की आज्ञा नहीं देता और वे टखनों तक ऊँची धोती—वह भी आधी—मैली सी खुले गले की

कमीज़ पहने, नंगे सिर चले आते हैं और वैसे ही कौच में आकर धँस जाते हैं।

[फिर कुर्सी से चटाई तक और चटाई से कुर्सी तक चक्कर लगाने लगते हैं।

गुरु अपने उसी १० × ८ फुट के कमरे से, हाथ में एक खुली पुस्तक लिये तेज़ तेज़ दाखिल होता है। दोनों टकराते टकराते बचते हैं। दोनों एक दूसरे को थामते हैं और डाक्टर साहब कुर्सी तक अपना चक्कर पूरा करने और गुरु रसोई-घर को छूने चल देता है]

गुरु : (रसोई-घर के दरवाज़े को छूकर) भाभी......(दरवाज़े को खोल कर सिर अन्दर करते हुए) मैं कहता हूँ, मेरे जाने में केवल एक घंटा रह गया है।

[कुछ क्षण उसी तरह खड़ा रहता है फिर सिर बाहर निकाल कर और मुड़कर—जब कि डाक्टर साहब उसी तरह सिर नीचा किये, पतलून में हाथ डाले, कुर्सी से चटाई की ओर जा रहे होते हैं—]

—: लीजिए, पिता जी आटे की बोरी लेने गये हैं, तो आ चुका आटा।

(बेज़ारी से सिर हिलाता है।)

[पतला दुबला, पाँच फुट साढ़े पाँच इंच का युवक है—रंग गेहुँआ, बाल लम्बे और चमकीले, लेकिन माथा बिलकुल छोटा—खड़े कालरों वाली कमीज़ और पतलून के बावजूद, शक्ल सूरत से ज़रा भी तो नहीं

लगता कि यह डिप्टी कमिश्नर, मैजिस्ट्रेट, सबजज छोड़ मुख्तार भी बन सकेगा। किन्तु भाग्य अपनी विभूतियाँ देते समय शक्ल सूरत कम ही देखता है। बहुत से सुन्दर मातहत युवक इस बात को भली-भाँति समझते हैं। और इस समय तो डाक्टर साहब भी भूल गये हैं कि उनका यह भाई कभी डिप्टी होने जा रहा है, क्योंकि वे उसकी बात का उत्तर दिये बिना फिर कुर्सी की ओर चल देते हैं जहाँ कि चचा ने इस बीच में उनकी आपत्ति का हल सोच लिया है।]

चाननराम : कपड़ों का तो हो सकता है। उन्हें तुम लोग नये कपड़े......

डा० हंसराज : कदापि नहीं हो सकता। सफ़ाई का स्वभाव भी दूसरी आदतों की भाँति एक समय चाहता है, बनते-बनते बनता है। उनमें और हम में आधी सदी का अन्तर है।

गुरु : (भावी आई० सी० एस०) वे मूँछें रखते हैं, जिन पर नीम्बू टिक सके और हमारे ऐसा भी मालूम नहीं होता कि दैव ने उन्हें कभी पैदा भी किया था। वे सिर घुटा कर रखते हैं—चटियल मैदान की भाँति! और हम दो-दो महीने इस मामले में नाई को कष्ट नहीं देते, वे कमीज़ और तहबंद पहने अनारकली में घूम सकते

हैं और हम सोते समय भी सूट उतारने से हिचकिचाते हैं।

[चाननराम 'तुम अभी बच्चे हो, तुम्हारी यह चंचलता क्षम्य है', के से भाव से हँसते हैं।]

डा० हंसराज : (छोटे भाई की सहायता को आते हुए) हँसी की बात नहीं चचा जी ! बचपन का स्वभाव एक दिन में नहीं बदल सकता। एक दिन में वे अपने पुराने संस्कारों को छोड़कर सभ्य समाज के शिष्टाचार नहीं सीख सकते। वे पिताओं तथा पतियों के ईश्वरीय अधिकारों (Divine Rights) में विश्वास रखते हैं। उनके विचार में लड़का चाहे डाक्टर छोड़ गवर्नर भी क्यों न हो जाय, पिता से मिलने पर तत्काल उसे उनके चरणों में झुक जाना चाहिए, फिर चाहे वे बाज़ार में अथवा स्टेशन के प्लेटफ़ार्म पर ही क्यों न खड़े हों और कितने भी प्रतिष्ठित मित्र क्यों न उनके साथ हों !

गुरु : और पिता की गाली सुनकर उसे चुप खड़ा रहना चाहिए, अथवा ऐसे मुस्कराना चाहिए जैसे उस पर फूल बरस रहे हों।

चाननराम : माता-पिता की गालियाँ तो घी-शक्कर सी मीठी होती हैं। जिसे ये नहीं मिलीं, वह जीवन में एक महान विभूति से वंचित रह गया है।

(दोनों भाई ज़ोर से क़हक़हा लगाते हैं)

चाननराम : (अप्रकृतिस्थ हुए बिना) प्रणाम की बात है तो भाई माता-पिता के चरणों में झुकना संतान की अपनी प्रतिष्ठा है। मुझे उन मित्रों की मानसिक अवस्था पर तरस आता है जो इस पर नाक-भौं चढ़ाते हैं।

गुरु : चाहे बाज़ार हो या स्टेशन का प्लेटफ़ार्म ?

चाननराम : कहीं भी क्यों न हो, तुम तो भला उनके लड़के हो, और उनके चरण ही छूने पर इतनी बातें बना रहे हो, मेरे साथ जानते हो क्या हुआ ? दीनदयाल......

डा० हंसराज : (जेब से कुञ्जियों का गुच्छा निकालकर उसे अंगुलियों पर घुमाते हुए) दीनदयाल !

चाननराम : हाँ वही, एक दिन उनके साथ बाज़ार में पंडित जी चले जा रहे थे। आते-आते शायद सब्ज़ी मंडी के ठेकेदार की जेबें गर्म करते आये थे। मैंने दोनों को हाथ जोड़कर 'नमस्ते' की। कहने लगे—'नहीं, झुककर प्रणाम करो।' मेरे साथ मित्र भी थे, किन्तु मैं चुपचाप उनके चरणों में झुक गया।

गुरु : छि: !

चाननराम : फिर कहने लगे, इनके भी पाँव छुओ !

डा० हंसराज : (गर्जकर, जैसे उनसे ही कहा हो) दीनदयाल के ?

चाननराम : लेकिन मैं झुक गया और वे इतने ही में प्रसन्न हो गये।

डा० हंसराज : (क्रोध से दाँत पीसते हुए) उस मूज़ी जेबकट के पैरों में, जिसे यदि मेरा बस चले तो......

[तिपाई को ठोकर मारते हैं, जैसे वही दीनदयाल है, सियाही की दावात फ़र्श पर गिर पड़ती है। नौकर को आवाज़ देते हैं।]

— : हरचरण, हरचरण !

[एक छोटा सा पहाड़ी नौकर (जो मुंडू कहलाता है) रसोई-घर से प्याज़ छीलता छीलता निकलता है।]

मुंडू : जी, उसे तो आपने दुकान पर भेजा था।

डा० हंसराज : (चपत लगाकर) तुझसे किसने कहा, इस तिपाई पर दावात रखा कर, उठा, सब फ़र्श ख़राब हो गया है।

(नौकर दावात उठाने लगता है।)

चाननराम : दावात रहने दो बेटा, पहले कपड़ा लेकर फ़र्श साफ़ करो।

[नौकर भाग जाता है और फिर गीला कपड़ा लाकर फ़र्श साफ़ करता है]

गुरु : (रसोई-घर की ओर देखकर) माँ अभी मुझे कितनी देर और प्रतीक्षा करनी पड़ेगी ?

[माँ रसोई-घर से हाथ पोंछती हुई आती है--दुर्बल तथा कृशकाय, चेहरे पर दुखों ने गहरे निशान छोड़ दिये हैं, पुराने फ़ैशन की कमीज़ और सुथनी पहने है, सिर पर चादर है--बस सब मिला कर वह ऐसी है, जैसी एक मजूप की स्त्री निरंतर उसके साथ सर्दी-गर्मी झेलने, उसकी और उसके बच्चों की, ख़बरगीरी करने से बन जाती है।]

माँ : हमारी ओर से तो बेटा कोई देर नहीं। सब्जी तो बस तैयार है, आटा ख़त्म हो गया था और वनिये के घर रात को तीन बच्चे एक साथ पैदा हुए।

गुरु : तीन......एक साथ......पिता; पुत्र तथा पौत्र, तीनों के ?

माँ : नहीं नहीं केवल पिता के—दो लड़कियाँ और एक लड़का।

डा० हंसराज : उस काँटे से व्यक्ति के यहाँ ! और पत्नी भी तो उसकी तिनका सी है।

माँ : इसलिए उसकी तो दुकान बन्द थी, तब उनको भेजा कि सब्जी मंडी के चौक से जाकर आटा ले आयें।

गुरु : सब्जी मंडी के चौक से ! तब तो मैं शौक से होटल में खाना खा सकता हूँ।

डा० हंसराज : मुझे डर है कि कहीं सब को ही आज होटल में न जाना पड़े। और कोई नहीं था आटा लाने के लिए ?

माँ : मैंने तो बहुतेरा कहा कि गुरु या देव ले आयेगा। कहने लगे—मैं यहाँ बैठा बैठा क्या कर रहा हूँ, और कमला ने नोट उनके हाथ में दे दिया।

डा० हंसराज : नोट ! कितने का ?

माँ : दस का !

(डा० साहब कुर्सी में धँस जाते हैं।)

डा० हंसराज : (निराश-भाव से) इस कमला को तो कभी समझ न आयेगी।

कमला : (सामने के कमरे से निकलती है) मैंने कहाँ दिये। उन्होंने तीन बार कहा—लाओ बहू रुपये दो, लाओ बहू रुपये दो, लाओ बहू रुपये दो! गुरु को पढ़ने दो! उसकी परीक्षा समीप है, मैं बस अभी ले आऊँगा।

(बड़े रौब से मटकती हुई चली जाती है।)

डा० हंसराज : (अचानक उठकर और दोनों मुट्ठियाँ इकट्ठी भींच कर, महान् विटप की भाँति झूलते हुए, शब्दों पर ज़ोर देते हुए) यह नहीं होगा, यह नहीं होगा। देखिए चचा जी, कुछ रुपये महीना मैं दे सकूँगा......जो भी आप मेरे ज़िम्मे लगा देंगे! किन्तु रहना यहाँ उनका नहीं हो सकता।

चाननराम : लेकिन पिता......पुत्र......कर्तव्य......

डा० हंसराज : (विटप पर हवा का दबाव और भी अधिक हो जाता है और वह और भी झूलता है) मैं पुत्र के कर्तव्यों से भली-भाँति परिचित हूँ, किन्तु पिता का कोई कर्तव्य ही नहीं, यह मैं नहीं मानता, सात वर्ष के कड़े परिश्रम के बाद मेरी प्रेक्टिस कुछ चलने लगी है, मैं उसे यों बर्बाद नहीं कर सकता। परसों जब वे पिये हुए आये और बाज़ार से ही उन्होंने अधिक मद्यपता के कारण थरथराती हुई अपनी कर्कश आवाज़ में पुकारा 'हंसू'! तब मेरा तो दिल धक धक कर उठा था। बाहर आकर देखा—बूट के तस्मे खुले हैं, धोती की कोर धरती पर लटक रही है, कमीज़ का गिरेबान फटा हुआ है और

पगड़ी बग़ल में है (विटप पर तूफान का ज़ोर कम हो जाता है।) क़िस्मत अच्छी थी कि उस समय दुकान पर कोई पेशेंट न था, बड़े धैर्य के साथ मैं उन्हें घर ले आया।

[ऐन उस वक्त बाहर से देव आकर चुपचाप दरवाज़े की चौखट से पहलू के बल खड़ा हो जाता है, आयु अठाइस वर्ष से अधिक नहीं, परन्तु डाकखाने की बैठक ने उसे बत्तीस पैंतीस का बना दिया है। चेहरे की दो चार रेखाएँ 'डिलिवरी', 'बुकिंग' 'सॉर्टिंग' की विरसता का पता देती हैं, जिन विभागों में कि वह क्रम से अब तक काम करता आया है। मूछें बढ़ी हुई हैं। इसलिए नहीं, कि उसे बड़ी मूछें पसन्द हैं, बल्कि इसलिए कि मूछें कटवाने का समय उसे नहीं मिला, हँसमुख है, किन्तु अब उसकी हंसी ऐसे ही ठिठुरती हुई प्रकट होती है जैसे शरद् के बादल भरे आकाश में पीली-श्वेत सूरज की मुस्कान।

किसी को भी उसके आने का पता नहीं चलता, इसलिए डाक्टर साहब अपनी बात जारी रखते हैं।]

डा० हंसराज : और पुकारने का ढंग तो देखो......न हंसराज, न हंस (नकल उतारते हुए) हंसू! (जो विटप था वह पौधा सा होकर धरती पर लेट जाता है।) और मैं दो बच्चों का बाप हूँ और डाक्टर कहलाता हूँ।

[व्यंगमयी वेदना के भार से हँसते हैं। वहाँ चौखट के साथ खड़े खड़े देव के चेहरे पर वही शरद का सूरज क्षण भर के लिए मुस्कराता है।]

चाननराम : (वहीं जमे हुए) माता-पिता बच्चों को उनके बचपन का नाम......

डा० हंसराज : नहीं चचा जी, यह मुझ से न होगा, आप देव से क्यों नहीं कहते।

[दरवाजे में सूरज का तेज क्षण भर के लिए प्रखर हो उठता है।]

देव : जिससे उनकी एक दिन तो दूर एक पल के लिए भी नहीं बन सकती।

[सब आश्चर्य से उसकी ओर देखते हैं। शरद् का सूरज उनके समीप आ जाता है।]

डा० हंसराज : (खिन्न हुए बिना) तुम दिन भर दफ़्तर में रहते हो और दफ़्तर भी तुम्हारा समीप नहीं कि वे पहुँच जायँ, पूरे छै मील है......नहर के पास......!

देव : लेकिन रात को तो मैं घर आता हूँ और रात को साधारणतया मेरे इन बालों को देखकर उन्हें गुस्सा आया करता है। जब पिता जी 'बहराम' के स्टेशन पर थे, तब मेरा दुर्भाग्य कि एक दिन मैं शाम की ट्रेन से वहाँ चला गया। रेलवे गार्ड के सामने ही उन्होंने मुझे बालों से पकड़ लिया...'ये हीजड़ों

की भाँति बाल बना रखे हैं तुमने......' और पुरुषत्व और पुंसत्व पर एक भाषण झाड़ते हुए मेरी जो गत बनाई......

चाननराम : (जो अपनी धुन के पक्के हैं, स्थिर अचल, जहाँ बैठे हैं, वहाँ से हिले नहीं) तब तुम बच्चे थे, पर...

देव : पर जिनके लिए डाक्टर साहब अभी तक 'हंसू' हैं, उनके लिए बेचारा देव....

(शरद् का वही सूरज हँसता है।)

—: और फिर रात को ही उन पर गाने की धुन सवार होती है। एक बार मुझ से कहने लगे...'तुम गाओ' अब मैं क्या गाता। विवश हो चिंघाड़ने लगा। आँखों में मेरी आँसू भर आये। कहने लगे...अच्छा गाते हो, रियाज़ जारी रखो, तुम्हें लखनऊ के म्युज़िक कालेज में दाखिल करा देंगे।

[गुरु ठहाका मारकर हँस पड़ता है, हंसराज डाक्टरों की भाँति हँसते हैं, देव के चेहरे से मात्र बादल तनिक से हटते हैं, चचा चाननराम कदाचित् इसलिए नहीं हँसते कि बच्चों की हँसी में क्या शामिल हों....

हरचरण एक बिस्तर और बैग उठाये दाखिल होता है।]

डा० हंसराज : कैलाश आ गया ?

हरचरण : दुकान पर हैं जी, मैंने कहा—आप तनिक बैठें कोई रोगी......

डा० हंसराज : मैं जाता हूँ।

माँ : (रसोई-घर का दरवाज़ा खोलकर) गुरु तनिक साइकिल लेकर जाना तो। वे तो आये नहीं, देखो तो कहाँ ठहर गये ? नहीं जा तू ही वहाँ से कुछ आटा ले आ, कैलाश भी तो आ गया है।

गुरु : होंगे कहाँ ? सब्ज़ी मंडी में एक ही तो जगह है उनके जाने की।

[हरिनाथ (हरेन्द्र) प्रवेश करता है। हाथ में कुछ कागज़ लिये और फ़र्श पर इधर उधर देखते और कुछ ढूँढ़ते हुए।

धोती कुर्ता और उस पर चादर पहने है, बाल तनिक लम्बे हैं और पाँवों में चप्पल हैं।]

हरिनाथ : मैं पूछता हूँ, रात को मैं इधर तो नहीं रख गया।
(तिपाई के नीचे ऊपर देखता है।)

चाननराम : क्या ढूँढ रहे हो, क्या चीज़ गुम हो गई ?

हरिनाथ : बड़े परिश्रम से लिखी थी।
(फिर इधर उधर देखता है।)

देव : क्या था भाई ?

हरिनाथ : एक कविता थी। देर से मैं लिख रहा था, कितनी अच्छी बन रही थी, मुझे तो याद भी नहीं।

चाननराम : तनिक बैठो, कविता फिर लिख लेना।

हरिनाथ : पर मुझे तो वह भेजनी थी। कम्पोज़िटर बेकार बैठे हैं, साइकिल पर भागा आया हूँ।

चाननराम : मैं साइकिल पर देव को भेज दूँगा। इन पन्द्रह मिनटों में कुछ बिगड़ न जायगा। मैं तो बुलवाने ही वाला था। अच्छा हुआ कि तुम आ गये।

हरिनाथ : मैं कहता हूँ, वह गुम कहाँ हो गई, वह कविता, छै महीने हो गये मुझे उसकी थीम* सोचते।

गुरु : कोई खंडकाव्य शुरू किया था क्या ?

हरिनाथ : नहीं जी, एक फुलस्केप के दोनों ओर लिखी हुई थी।

(हताश सा बरामदे के मध्य खड़ा हो जाता है।)

देव : यह आपके हाथ में क्या है ?

हरिनाथ : (चौंककर खिसियानेपन से) वाह ! अरे मैं इस बीच में इसे बराबर हाथ में लिये फिरा हूँ।

देव : (कविता उसके हाथ से लेकर) आप तनिक बैठें, चचा जी को आप से दो बातें करनी हैं, कविता मैं अभी नौकर के हाथ भिजवा दूँगा।

(चला जाता है, हरिनाथ कुर्सी पर बैठ जाता है।)

चाननराम : देखो तुम्हारे पिता अब रिटायर हो गये हैं। मैं नहीं चाहता, वे घर पर रहें। वहाँ उनके पुराने यारग़ार हैं, वहाँ वे न सुधरेंगे।

---

*थीम (Theme) आधार-भूत विचार !

हरिनाथ : वहाँ वे सुधर चुके। शादीराम, रामरत्न, बनारसी दास, बंसीलाल......सब मतवाले, लेकिन दूसरों के माल पर। हमारे पिता जी अपना घर फूँक कर तमाशा दिखाने वाले।

चाननराम : यही तो मैं भी कहता हूँ। उन्हें आवश्यकता है अच्छी संगति की और फिर ऐसे व्यक्ति की, जो उनकी अच्छी तरह देख भाल कर सके। गुरु और देव तो बच्चे हैं! हंसराज का मन उनसे न मिलेगा। कैलाश के संबंध में मैं कह नहीं सकता। वह अक्खड़ तबीयत का आदमी है। मैं उसे कहूँगा अवश्य, परन्तु तुम से मुझे बड़ी आशा है! तुम समझदार हो, साहित्यिक हो, मानव के गुण दोषों से परिचित हो। तुम्हारे पास......(हरिनाथ चौंकता है।)......वे कुछ सम्हल......

हरिनाथ : (दार्शनिक-भाव से तनिक हँसकर) अब वे क्या सम्हलेंगे।

चाननराम : तुम्हारे पास रह कर......

हरिनाथ : मेरे पास, परन्तु मैं तो सात्विक व्यक्ति हूँ। वे ठहरे खाने पीने वाले आदमी। वे चौथे रोज मुर्ग भूनने वाले और फिर मदिरा (मुँह बनाता है, जैसे नाम ही से उसका चित्त मिचलाने लगा हो) मैं तो पास भी नहीं बैठ सकता, मैं तो उस कमरे में बैठना तक सहन नहीं कर सकता।

[जैसे शराब के नाम ही से उसका दम घुटने लगा हो, उठ कर घूमता हुआ, धोती के पल्ले से हवा करने लगता है।

डा० हंसराज और कैलाश पति ज़ोर-ज़ोर से बातें करते प्रवेश करते हैं।]

कैलाश : बख्शो बी बिल्ली, चूहा लँडूरा ही भला। मुझ से उनकी एक दिन, एक दिन क्या, एक पल नहीं पट सकती। मैं उनकी एक गाली तक नहीं सुन सकता। गाली तो दूर, एक बार उन्होंने मुझे Idiot (मूर्ख) कहा था और मैंने तीन दिन खाना न खाया था......

डा० हंसराज : अरे भई अब पिछली बातों को......

कैलाश : आप भूल सकते हैं वे सब बातें, मैं नहीं भूल सकता। याद है आपको, उस दिन उनकी कितनी ज्यादती थी। घर में खाने को नहीं था और वे बीस रुपये (जो माँ उधार लाई थी) किसी श्रेष्ठ-व्यक्ति को दे आये थे। (तनिक जोश से) उनके लिए प्रत्येक व्यक्ति श्रेष्ठ है, केवल घर वालों को छोड़ कर। और जब मैंने आपत्ति की थी तो तलवार लेकर मेरी ओर दौड़े थे। (नौकर को आवाज़ देता है) ओ मुंडू...ओ मुंडू... !

(हरचरण रसोई घर से प्लेट धोता धोता आता है।)

— : साबुन और तेल स्नानगृह में रख दे। यह लम्बी यात्रा और सम्मा सट्टा लाइन की यह धूल ! मैं तो बर्बर लग रहा हूँगा।

[छै भाइयों में यद्यपि वह चौथा है तो भी वह अपने उस कवि और उस क्लर्क भाई से बड़ा लगता है। चौड़े जबड़े, टेढ़े मेढ़े दाँत और आँखों में हिंस्र ज्वाला है—बिखरे हुए, धूल भरे बालों पर (जिनसे वह सत्य ही बर्बर लगता है,) हाथ फेरता हुआ वह इधर-उधर घूमता है।]

चाननराम : (उठकर, उसके पास जाकर, उसके कंधे पर हाथ रखते हुए) **परन्तु कैलाश......**

कैलाश : **परन्तु नहीं चचा जी। मैं कुछ नहीं कर सकता। मैं पूछता हूँ—उन्होंने हमारा कितना ख्याल रखा है? बे-बाप के बच्चे हम से अच्छी तरह पलते होंगे और फिर उनके अत्याचार......**

चाननराम : **परन्तु बेटा......**

कैलाश : (घूमते हुए दाँत पीसकर) **अब चाहे आप भूल जायँ, मैं जीवन भर नहीं भूल सकता वे सब बातें। पता है न आपको? टाइफ़ाइड से मैं मृत-प्राय हो रहा था। मल्लूपोते से बुआ का लड़का बैजनाथ आया था। तब उन्होंने क्या ऊधम मचाया था।**

चाननराम : **पुरानी बातें......**

कैलाश : **पर मेरे लिए तो वे सब नयी हैं। इतनी सी बात थी न कि बैजनाथ ने आते ही पचास रुपये माँ को दिये कि वे उन्हें अपने पास रखे। जाते जाते वह उन्हें ले जाता। दीवाली के दिन थे, उनको न जाने कैसे उनकी**

गंध मिल गई। लगे माँ से रुपये माँगने। उसने कहा कि मेरे पास एक भी रुपया नहीं। आप ही कहिए दूसरे के रुपयों को वह कैसे उन्हें दे देती। उठा कर जलती लालटैन उन्होंने उसके दे मारी। मैंने रोका तो तलवार उठा लाये। मेरे सिरहाने लम्बी छुरी वाला हंटर था। सौभाग्य से बीच-बचाव हो गया, नहीं तो किसी का खून हो जाता।

चाननराम : (निराश होकर) परन्तु बेटा, अब तो न उनका वह स्वभाव है, न वह शरीर। दम खम भी उनमें वह पुराना नहीं। अब ये सब बातें वे कहाँ कर सकते हैं......!

डा० हंसराज : (हँसकर) पर स्वभाव तो वही है।

गुरु तथा देव : (दोनों एक साथ बोलते हुए) स्वर की कठोरता तो वही है। शराब पीने का स्वभाव तो वही है।

[नशे में चूर पं० बसन्तलाल प्रवेश करते हैं। पाँव लड़खड़ा रहे हैं। सिर नंगा है। कमीज़ के बटन खुले हैं। तहमद धरती पर लटक रहा है। एक पाँव से जूता ग़ायब है। हाथ में एक पुर्ज़ा सा है (जो लाटरी का टिकट है) आवाज़ थरथरा रही है...]

बसन्तलाल : ओ हंसू......

[डा० हंसराज आग्नेय-दृष्टि से उनकी ओर देखते हैं और आग भरे स्वर से ही कहते हैं :—]

— : आप तो आटा लेने गये थे।

बसन्तलाल : कम्बख्त...आटा...क्या ?...मैं तीन लाख रुपये का टिकट ले आया हूँ। तुम्हें विलायत भेज दूँगा।

(कुर्सी पर बैठते बैठते लुढ़क जाते हैं।)

डा० हंसराज : (उठ कर और रसोई-घर की ओर देखते हुए चीख कर) मैं कहता न था, और सब मर गये थे क्या ? ये नौकर किस मर्ज़ की दवा होते हैं। भेज दिया इनको चीजें लाने के लिए। अब पड़े भूखों मरो......।

गुरु : (अपने कमरे को भागता हुआ) मेरे तो कालेज का समय हो गया है। अब रोटी......

[कमरे से ग़ायब हो जाता है। कमला रसोईघर से मटकती हुई निकलती है।]

कमला : नौकर को और कोई काम नहीं करना होता क्या ? आप इतने लोग क्या करते रहते हैं ? तिनका तक तो कोई तोड़ता नहीं !

(दूसरे कमरे में चली जाती है।)

देव : मैं भी चलूँ, मुझे कैंट पहुँचना है।

(जिधर से आया था, उधर से चला जाता है।)

कैलाश : ओ मुंडू, साबुन तेल रखा है या नहीं ?

माँ : (रुँआसी सी शक्ल लिये रसोई-घर से झाँकती है) इन्हें उठाकर चारपाई पर तो लिटा दो। धरती पर पड़े हैं।

बसन्तलाल : (उठने का यत्न करते हुए) कौन कम्बख्त हमें उठा सकता है...हम...हम स्वयं उठेंगे......

[उठते हैं, किन्तु लड़खड़ाकर गिर पड़ते हैं। चाननराम तथा डा० हंसराज उन्हें उठाकर बिस्तर पर लिटा देते हैं।]

(पर्दा गिरता है।)

(कुछ क्षण बाद पर्दा फिर उठता है।)

[बरामदे में सन्नाटा है। धूप की बड़ी तिकोन अब एक छोटी सी आयत बन गई है। रसोई-घर से सुगंधि अभी तक उठ रही है, किन्तु, चूँकि केवल सब्ज़ियों से ही भूख नहीं मिट सकती, इसलिए शायद डाक्टर साहब स्वयं आटा लेने गये हैं। गणेश-वाहन श्री मूषक जी महाराज फिर कहीं से आ गये हैं और इस प्रकार इधर-उधर विचर रहे हैं, जिस प्रकार राज-धानी से भागा हुआ अधिपति पुनः अपना राज्य पाने पर। चटाइयाँ ख़ाली हैं, कुर्सियाँ ख़ाली हैं, केवल चारपाई पर पंडित बसन्त लाल पड़े ख़र्राटे ले

रहे हैं। लाटरी का टिकट उनका धरती पर गिर पड़ा है, किसी ने उसको उठाने का कष्ट नहीं किया और वे सो रहे हैं और उनके खर्राटे निस्तब्धता को और भी निस्तब्ध बना रहे हैं]

(पर्दा फिर गिरता है।)

(पर्दा फिर उठता है।)

[वही बरामदा और वही सामान। केवल इतनी बदली हुई है कि चटाइयों के स्थान पर चर्खा बिछा है, जिसके साथ बैठी हुई माँ ऊन कात रही है, (गर्मियों में काती जायगी तो सर्दियों में काम आयेगी, इसीलिए) साथ में एक दूसरी पीढ़ी है। वह शायद कमला की है, क्योंकि उस पर एक किरोशिये से बुना जाता मेज़पोश पड़ा है। चारपाई वैसे ही बिछी है और उस पर कोई सो भी रहा है। ख़र्राटे भी ले ही रहा होगा किन्तु उसके खर्राटों का स्वर चर्खे की 'घूँ-घूँ' में शायद सुनाई नहीं देता। सोने

वाले महाशय पंडित वसन्तलाल हैं, किन्तु शायद वे नहीं हैं, क्योंकि पर्दा उठने के पल भर बाद ही वे पूर्ववत् बग़ल में पगड़ी दबाये, खुले हुए गले और फर्श पर घिसटती हुई आधी धोती की कोर से बेपरवाह, मूंछों पर ताव देते हुए झूमते झामते प्रवेश करते हैं। उल्लास उनके चेहरे पर फूटा पड़ता है और पाँव उनके धरती पर टीक नहीं पड़ते।

आते ही पगड़ी को कुर्सी पर फेंककर खड़े खड़े झूमते हैं और नौकर को आवाज़ देते हैं— स्वर उनका थरथरा रहा है, जैसे कि साधारणतया नशे में थरथराने लगता है।]

—: मुंडू, ओ मुंडू

[हरचरण रसोई-घर से भागा हुआ आता है। हाथ लिथड़े हुए हैं। शायद बर्तन मलता मलता उठकर भाग आया है।]

—: जी!

वसन्तलाल :—(दस रुपये का नोट फेंकते हैं।) **जा भाग कर बाज़ार से कैंची की एक डिबिया ले आ।**

[नोट देखकर माँ चौंकती है, सूत का तार टूट जाता है, और वह योंही चर्खे की हत्थी घुमाये जाती है। नौकर नोट उठा कर जाता है। पंडित बसन्तलाल अपनी पत्नी को सम्बोधित करते हैं—वैसे ही झूमते हुए, खुशी के पंखों पर जैसे उड़ते हुए :—]

वसन्तलाल : मैं कहता हूँ हंसू की माँ, माँग लो आज मुझ से जो कुछ माँगना चाहती हो, मैं तुम्हारी प्रत्येक इच्छा आज पूरी कर दूँगा।

[कुर्सी में धँस जाते हैं, टाँगें तिपाई पर रख लेते हैं—माँ चर्खा कातना छोड़ देती है और अविश्वास से हँसती है।

पंडित वसन्तलाल टाँगें फिर नीचे करके उसकी ओर मुड़ते हैं]

— : तुम मज़ाक समझती हो, मैं सत्य कहता हूँ। मुझे तुम मदमत्त मत समझो। माँगो !

[उठकर खड़े हो जाते हैं और झूमते और लड़खड़ाते हैं।]

— : माँगो मैं सब कुछ दूँगा।

माँ : (विषाद से हँसती है) मैं क्या माँगूगी।

(सूत का तार जोड़ने का प्रयास करती है।)

वसन्तलाल : गहना, कपड़ा, सुख, आराम कुछ भी माँगो, तुमने आयु भर मेरे साथ दुख पाया है, कहो तुम्हें गहनों कपड़ों से लाद दूँ।

माँ : (स्वर आर्द्र हो जाता है) मैंने बहुतेरे गहने कपड़े पहन लिये, (सजल हँसी से) अब तो यही अभिलाषा है कि आपके चरणों में संसार छोड़ दूँ।

वसन्तलाल : संसार छोड़ दो...पागल ! (हवा को हाथ से चीरते हैं और इस प्रयास में गिरते-गिरते कुर्सी पर धँस जाते हैं।) संसार-

सुख के उपभोग का अवसर तो अभी आया है। (सहसा आँखे भर कर) मैंने तुम्हें बड़े दुख दिये— मारा पीटा, गहने कपड़े से तंग किया (सिसकने लगते हैं।) पैसे पैसे को मोहताज रखा, बनवाकर तो क्या देता उल्टा तुम्हारी चीज़ें तक बेच डालता रहा (सहसा आँखें पोंछकर जोश से) किन्तु अब मैं सब बातों की कसर निकाल दूँगा। मैं अब तुम्हें इतना सुख दूँगा (और भी जोश से) इतना सुख, कि तुम्हें इच्छा न रहेगी। गहने, कपड़े, जितने चाहो पहनो ! जिस तीर्थ की चाहो, यात्रा करो !! और जितने ब्राह्मणों और ब्राह्मणियों को चाहो भोजन खिलाओ !!! कितनी देर से तुम तीर्थ-यात्रा करने की इच्छा प्रकट कर रही हो, देखो कोई तीर्थ रह न जाय, फिर न कहना कि अमुक स्थान को देखने की अभिलाषा रह गई।

[माँ निर्निमेष किन्तु अविश्वास भरी दृष्टि से चुपचाप उनकी ओर देखे जाती है।]

— : हाँ कोई ऐसा तीर्थ नहीं, कोई ऐसा स्थान नहीं जो मैं तुम्हें न दिखा दूँ और तुम्हें दान-पुण्य का जितना शौक है वह सब निकाल लो। जितना चाहे दान पुण्य करो।

(फिर टाँगे तिपाई पर रख लेते हैं।)

माँ : (अविश्वास और व्यंग से) मैंने बहुतेरा दान-पुण्य कर लिया है।

बसन्तलाल : (नशे में झूमते हुए) मैं कहता हूँ, एक लाख रूपये मैं केवल तुम्हारे नाम लगाने जा रहा हूँ।

माँ : (स्तम्भित) लाख !

बसन्तलाल : एक लाख इन कम्बख्त लड़कों को दे दूँगा।

माँ : लाख !

बसन्तलाल : एक लाख में से चाननराम, हंसराज, बनारसी दास...।

माँ : लाख..लाख..लाख..आप शायद...

बसन्तलाल : (जोश से उठकर) तुम्हें विश्वास नहीं आता (जेब से तार निकालते हैं।) तीन लाख की लाटरी मेरे नाम निकली है।

माँ : (भौंचक्की सी) तीन लाख की !

(उठ कर खड़ी हो जाती है।)

— : आप शायद अधिक......

बसन्तलाल : (काग़ज़ को हवा में फहराते हुए) यह देखो तार। मैंने दीनदयाल से दस हजार रुपया लिया है। जब तक लाटरी का रुपया वसूल नहीं होता तब तक के लिए। पाँच हजार मैं चाननराम को दे दूँगा, उसकी लड़की का विवाह है। मैं उसका अहसान नहीं भूल सकता (सहसा आँखें भर कर) कम्बख्त इन लड़कों ने जब मेरा साथ छोड़ा तब उसने मेरी कितनी सेवा की (आँखें पोंछकर) पर पूत कपूत होते हैं, पिता कुपिता नहीं होते, मैं इन कम्बख्तों के नाम एक लाख लगा दूँगा। लाख तुम ले लो। बाकी लाख से मैं जो चाहे

करूँ। मैंने तुम्हें कहा था न कि लाटरी इस बार मेरे नाम अवश्य आयेगी।

माँ : (मन ही मन से भगवान सत्यनारायण को प्रणाम करके) मैंने भगवान सत्यनारायण की कथा कराई थी।

(चर्खे के ऊपर से गुज़र कर उनके पास आ जाती है।

बसन्तलाल : तुम अब सब नारायणों की कथा कराना !

[चलते हैं, फिर रुककर पगड़ी उठाते हैं, उसी तरह बग़ल में दे लेते हैं, और मूछों पर ताव देते हुए दरवाजे की ओर बढ़ते हैं।]

माँ : (साथ साथ जाती हुई) किधर चले, कुछ पल तो बैठें, आप......

बसन्तलाल : मुझे चाननराम से मिलना है, उसकी लड़की का विवाह है......

माँ : (आर्द्र कंठ से) दयालचंद का भी आपको कभी ख़याल आया।

बसन्तलाल : दस हजार रुपया उस कम्बख्त के ढूँढ़ने पर खर्च कर दूँगा। वह मेरा लड़का इन सब से अच्छा था... आज्ञाकारी और होनहार !

माँ : सब उसकी बुद्धि की प्रशंसा करते थे।

बसन्तलाल : वह पाताल में भी चला जाय तो मैं उसे ढूँढ लाऊँगा।

माँ : लेकिन आप हंस को तो आ लेने दें।

बसन्तलाल : उस कम्बख्त को मैं माल पर दुकान खुलवा दूँगा।

माँ : आप की कैंची की डिब्बियां.....

बसन्तलाल : नौकर को शौक है, उसे कहना पीले......

(चले जाते हैं।)

[माँ मुड़ती है, खुशी से चेहरा दुगना हो गया है। इधर उधर देखती है कि कहीं भगवान की मूर्ति हो तो सिर झुकाये। पर वह तो बरामदा है, वहाँ भगवान की मूर्ति क्या, चित्र भी नहीं। आखिर आकाश की ओर देख कर नतमस्तक हो जाती है, भगवान आकाश में जो बसते हैं, इसीलिए।]

— : भगवान तेरी लीला अपरम्पार है ! तूने जिस प्रकार मेरी सुनी, उसी प्रकार सब की सुन। मैं सब से पहले तेरा प्रसाद बाँटूँगी।

(नौकर कैंची की डिबिया लिये प्रवेश करता है।)

नौकर : माँ जी कैंची......

माँ : डिबिया तू ही रख ले और जा पाँच रुपये के लड्डू चौक से ले आ। ताज़े बनवा कर लाना। मैं पाठ पर बैठी होऊँ तो मुझे न बुलाना। भगवान को प्रसाद लगाना चाहती हूँ मैं !

[नौकर उलटे पाँव वापस चला जाता है और माँ बायीं ओर के, सामने कमरे में प्रवेश करती है।

कुछ क्षण बाद डा० हंसराज घबराये हुए दाखिल होते हैं और अपनी पत्नी को आवाज़ देते हैं।]

डा० हंसराज : कमला, कमला

[कोई आवाज नहीं आती।
डाक्टर साहब 'कमला कमला' आवाज देते हुए सब कमरों में झाँकते हैं और फिर शायद पाठ करती हुई माँ से संकेत पाकर स्नानगृह के दरवाजे पर आ खड़े होते हैं और किवाड़ पर टिकटिक करते हुए आवाज देते हैं।]

— : कमला कमला!

[किवाड़ खोल कर कमला अन्दर से निकलती है। खुले खुले चमकीले बाल उसके कंधों पर बिखरे हैं। चेहरा निखरा हुआ है और श्वेत साड़ी पहन रखी है। कंधों पर बालों के नीचे एक तौलिया है।

पीढ़ी पर रखा हुआ किरोशिया और आधा बुना मेजपोश उठा लेती है और किरोशिया चलाने लगती है।]

डा० हंसराज : तुम्हें हो क्या गया? इतनी आवाजें मैंने दीं...

कमला : मैंने नल छोड़ रखा था। केश...

डा० हंसराज : तुम्हें पता नहीं, पिता जी के नाम तीन लाख की लाटरी निकल आई है।

(कमला अवाक खड़ी रह जाती है।)

डा० हंसराज : सच, तीन लाख की। तुम्हें याद है न एक बार तुमने आटा लाने के लिए दस रुपये उन्हें दिये थे।

अरे उस दिन, जब चचा चाननराम यहां आये हुए थे। उस दिन जी, जब कैलाशपति भी यहाँ था और वे आटा लाने के बदले लाटरी का टिकट खरीद लाये थे।

कमला : (बुनना छोड़ कर) वे रुपये तो हमारे थे। लाटरी का रुपया तो हमें मिलना चाहिए।

डा० हंसराज : (विवशता से) लेकिन डर्बी वाले तो इस बात को नहीं जानते।

कमला : वे लाख न जानें। किन्तु पिता जी को तो उसका आधा हमें देना चाहिए। यदि मैं रुपये न देती तो वे टिकट कहाँ से खरीदते।

डा० हंसराज : तुम तो मूर्ख हो।

[सिर कुरेदते हुए घूमते हैं। कमला शायद 'मूर्ख' की उपाधि पाकर ही संतुष्ट हो गई है। इसलिए वह दीवार के साथ ही लगी चुपचाप मेजपोश बुनती रहती है]

डा० हंसराज : (सब बरामदे का एक चक्कर लगाकर, 'तुम क्यों दुबले नगर के अंदेशे' के से स्वर में) मैं कहता हूँ, वह चाननराम पिता जी का सब रुपया हजम करके दम लेगा। मुझे निहालदास ने बताया, आते आते कहीं उसकी दुकान पर गप हाँक आये होंगे, पाँच हजार वे उन्हें दे रहे हैं। निहालदास कहता था कि वे अभी घर गये हैं, आये थे पिता जी यहाँ?

कमला : शायद आये हों, मुझे कुछ आभास तो होता है। लेकिन मैं तो स्नान-गृह में थी, और नल मैंने छोड़ रखा था और माँ चर्खा कात रही थीं, शायद इस सब के शोर में मुझे सुनाई नहीं दिया। माँ से पूछा आपने ?

डा० हंसराज : वे पाठ पर बैठी हैं।

[डा० हंसराज चुपचाप, कमर के पीछे हाथ रखे, बरामदे का एक और चक्कर लगाते हैं, फिर रुककर :—]

तुम मानी नहीं तब, नहीं यदि उन्हें यहां से न जाने दिया जाता तो कितना अच्छा होता !

कमला : (तिनक कर) मैं नहीं मानी, मैंने तो कई बार कहा कि आखिर आप के पिता हैं, उन्होंने पढ़ाया लिखाया तो आप इतना कमाने के योग्य हुए, किन्तु आपने सदैव डांट बता दी। आप स्वयं नहीं चाहते थे।

डा० हंसराज : मैं न चाहता था ? जब वे शराब पिये आते थे तो उनकी गालियां किसे अखरती थीं ?

कमला : और जब वे कीचड़ से सने हुए जूते लिये, खुले गले, नंगे सिर, झूमते झामते दुकान में आ जाते थे तो कौन तिलमिलाता था ?

डा० हंसराज : लेकिन तुम्हीं को तो उनका कई कई मेहमानों को लेकर आ जाना और उन सब के लिए खाना तैयार करने का तानाशाही आदेश देना अखरता था।

कमला : और आपको ही तो उनका रोगियों के सामने आधा नाम लेकर पुकारना बुरा लगता था।

डा० हंसराज : तुम मेरे साथ अन्याय करती हो।

कमला : आप मेरे साथ अन्याय करते हैं। यही दस रुपये... याद है न आपको...मैंने आटा लाने के लिए दिये थे और आपने दस बातें बनाई थीं।

[मटकती हुई दायें कमरे में जाती है। बगूले की भाँति गुरु प्रवेश करता है।]

गुरु : भाई साहब, सुना आपने, पिता जी के नाम तीन लाख की लाटरी निकली है (मुंह बाये और आँखें फाड़े) तीन लाख की डर्बी की लाटरी! राज का बड़ा भाई उनसे मिलने के लिए चचा चाननराम के घर गया था।

डा० हंसराज : इंटरव्यू करने के लिए?

गुरु : जी! दो बार तो वे बात ही नहीं कर सके। गुट पड़े थे। तीसरी बार वह गया तो अपनी अलसायी, मद-माती, रक्त वर्ण, आँखें खोल, उन्होंने उसे अपने पास बुलाया और उसके मुँह पर एक जोर से चपत लगा दी और फिर जेब से एक सौ का नोट निकाल कर उसके सामने फेंक दिया कि जा कम्बख्त दो चार दिन ऐश उड़ा, क्या जरा जरा सी खबरों के लिए मारा मारा फिरता है।

डा० हंसराज : (चौंक कर) सौ रुपया दे दिया (जिस कमरे में कमला गई है, उधर को देख कर) मैं कहता हूँ, यह तीन लाख रुपया इसी तरह उड़ जायगा (फिर गुरु की ओर मुड़कर) गुरु तुम जाओ, तनिक हरिनाथ को बुला लाओ।

[गुरु चलना चाहता है, डा० हंसराज उसे फिर आवाज़ देते हैं।]

— : और देखो, बिन्द्रा के यहाँ से देव को टेलीफोन कर दो। और यह लो एक रुपया, कैलाशपति को तार दे दो कि जिस प्रकार भी हो सके वह आज रात यहाँ पहुँच जाये।

[रुपया निकालकर उसकी ओर फेंकते हैं, गुरु उसे उठाकर चला जाता है और डाक्टर साहब फिर सिर कुरेदते हुए घूमने लगते हैं और आप ही आप बुदबुदाते हैं।]

— : किसी न किसी तरह उन्हें यहाँ ले आना चाहिए।

(फिर घूमते हैं, फिर रुककर :—)

— : लेकिन ले कैसे आयें ?

[कमला, पूर्ववत् किरोशिये से मेज़पोश बुनती हुई, एक कमरे से निकल कर दूसरे कमरे को जाती है, बुना हुआ मेज़पोश लटकता जा रहा है...डाक्टर साहब उसके पास जाते हैं।]

— : कमला !

कमला : (रुककर और मुड़कर) कहिए !

डा० हंसराज : (और भी पास जाकर, तनिक भेद भरे तथा अनुनय के स्वर में) देखो जो हुआ सो हुआ, लेकिन बुद्धिमान वही है, जो बिगड़ी हुई बात बना ले।

कमला : (नीची निगाह किये क्रिरोशिया चलाती हुई) इसमें क्या संदेह है, बिगड़ी हुई बात बनानी ही चाहिए।

(चलती है।)

डा० हंसराज : (साथ साथ चलते हुए) मैं चाहता हूँ कि पिता जी को यहाँ ले आऊँ।

कमला : तो ले आइए !

डा० हंसराज : लेकिन ले आने से काम न चलेगा, उन्हें यहाँ रखना होगा।

कमला : तो रखिए !

डा० हंसराज : रखने की बात नहीं, उनका मन बहलाना होगा।

कमला : तो बहलाइए !

(गुरु के कमरे में दाखिल हो जाती है।)

डा० हंसराज : (बाहर खड़े-खड़े) कमला !

[कमला मुड़कर चौखट में खड़ी हो जाती है, चट्टान की भाँति...दोनों एक निमिष के लिए एक दूसरे की ओर देखते हैं।]

डा० हंसराज : (स्वर को तनिक विवश, तनिक विनम्र बनाकर) देखो मेरी बात का गुस्सा न किया करो ! मेरा दिमाग़ बड़ा

परेशान रहता है। खर्च दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है और आय उतनी है नहीं और सरकार के बढ़ते हुए करों के कारण दुकान और मकान के मालिक किराया बढ़ाने की सोच रहे हैं और फिर यह कम्बख्त लाहौर! नित्य कोई न कोई अतिथि आया रहता है और पोज़ीशन रखने के लिए महँगे भाव चीज़ें खरीदनी पड़ती हैं।

[कुछ क्षण के लिए यह देखने के हेतु कि उनकी इस विवशता का प्रभाव उनकी पत्नी पर पड़ रहा है या नहीं, उसके चेहरे की ओर देखते हैं फिर :—]

डा० हंसराज : कैसी विडम्बना है यह कि जिनको आवश्यकता है, उन्हें लोहू पानी एक करने पर भी पैसा नहीं मिलता और जिन्हें ज़रूरत नहीं, उनके पास आप से आप चला आता है।

(फिर पत्नी के मुख की ओर देखते हैं।)

— : उनको व्यर्थ उड़ाने के लिए तीन लाख मिल जायँ और हमें उचित खर्च के लिए तीन सौ भी न मिलें!

[विवशता, लाचारी और निराशा से सिर झुका लेते हैं। चट्टान पिघलकर अपना स्थान छोड़ देती है।]

कमला : (बाहर आकर) आप यों ही जी छोटा करते हैं। दूसरे के नर्म-गर्म बिस्तरों को देखकर कोई अपनी दरी दुलाई तो नहीं उठा देता।

डा० हंसराज : (लगभग गर्ज कर) दूसरों के...मैं अपने पिता की बात कर रहा हूँ। उनके धन पर क्या हमारा कोई अधिकार नहीं ? उनके दुख-सुख में क्या हमारा कोई भाग नहीं ? और फिर मैं कहता हूँ कि अपने हक और अपने हिस्से की बात छोड़ो, मैं तो उनके लाभ की बात सोच रहा हूँ। यदि इस समय उन्हें न बचाया गया तो वे तबाह हो जायंगे। परमात्मा ने यदि उन्हें एक अवसर दिया है तो उन्हें इसका पूरा लाभ उठाना चाहिए। उसका दुरुपयोग उन्हें न करना चाहिए। और वे जिस रफ्तार से रुपया उड़ा रहे हैं, उस तरह तो तीन लाख, तीन वर्ष क्या, तीन महीने नहीं रहेगा। तुमने सुना नहीं, उस राज के भाई को उन्होंने एक सौ रुपया केवल एक चपत खाने के बदले दे दिया।

(देव चुपचाप प्रवेश करता है।)

देव : केवल एक चपत, परमात्मा की सौगन्ध, सौ रुपये के लिए तो आदमी सौ जूते खा सकता है।

डा० हंसराज : और भला नहीं क्या ?

(कमला हँसती है।)

देव : (उसी सर्दियों के सूर्य की सी मुस्कान के साथ) हँसी की बात नहीं भाभी, तुम नहीं जानती डिलिवरी

ब्राँच* में कितना काम होता है। नये विधान के अनुसार दफ्तर तो दूर, दुकानों के नौकरों तक को इतवार की छुट्टी होती है, किन्तु मुझे प्रायः रविवार को सुबह के पांच बजे से संध्या के सात बजे तक ड्यूटी देनी होती है। साल के बारह महीने, महीने के तीस इकतीस दिन और एक दिन के आठ घंटे...कहने का मतलब यह है कि वर्ष भर में लगभग दो हजार नौ सौ बीस घंटे अनथक काम करने के बाद मिलता क्या है? चालीस रुपया मासिक के हिसाब से मात्र ४८० रुपया...फिर यदि १०० जूते खाने के बदले सौ रुपया मिल जाय तो क्या बुरा है!

डा० हंसराज : लेकिन मैं पूछता हूँ—हरिनाथ क्यों नहीं आया? उसे तो तुम से पहले आ जाना चाहिए था। मैंने गुरु से कहा था कि वह उसे भेजकर तुम्हें टेलीफोन करे। और तुम ही इतनी जल्दी कैसे आ गये, क्या लारी पर आये थे?

देव : आया तो मैं लारी पर ही हूँ, किन्तु टेलीफोन मुझे नहीं मिला।

डा० हंसराज : तो तुम्हें लाटरी का कैसे पता चला?

---

*डाकखाने का एक विभाग जिसमें बाहर से आये हुए पत्र बाँटने के लिए डाकियों को दिये जाते हैं।

देव : शायद पिता जी उसमें से चचा चाननराम को पाँच हजार रुपया देने वाले हैं। ईर्षा-वश उनके भाई ने मुझे टेलीफोन किया, कि यदि तुम लोगों ने कुछ हिम्मत न की तो सब खत्म हो जायगा।

डा० हंसराज : इसमें क्या संदेह है, एक बोतल पिला कर कोई पिता जी से तीन लोक का राज्य लिखवा सकता है और फिर चची......

देव : एक ही विष की गाँठ हैं। ऊपर से जितनी भोली हैं, अन्दर से उतनी ही खोटी हैं। आकृति उनकी जितनी सुन्दर है, हृदय उनका उतना ही कुरूप है। मीठी मीठी बातों से मोह लेना वे खूब जानती हैं और फिर पिता जी, उनकी दुर्बलता तुम जानते ही हो, मीठी बातें करके, उन्हें चाहे कोई लूट ले, उनके कपड़े तक उतार ले!

डा० हंसराज : छै महीने घर रखने के बदले पाँच हजार रुपया हथिया लिया और लूटना किसे कहते हैं?

[दोनों कमरे में घूमने लगते हैं। एक कुर्सी से रसोई-घर तक और दूसरा कुर्सी से कमरे तक। फिर दोनों आमने सामने आकर खड़े हो जाते हैं।]

डा० हंसराज : (उसी कटुता से) देखो न, तुम उस डाकखाने के अँधेरे कमरे में, दिन के समय भी बिजली की रोशनी में चिट्ठियों के साथ माथा फोड़ते हो, यदि जीवन में तुम्हें कुछ स्टार्ट मिल जाय तो तुम क्या कुछ न कर

लो। अपने ही विभाग में तुम ऊँचे से ऊँचे पद पर आसीन हो सकते हो। यदि पिता जी तुम्हें दस हज़ार......

देव : उन्हें पहले अपने नये पुत्रों को तो स्टार्ट दे लेने दें। बनारसीदास को वे अपना सातवाँ पुत्र कहते हैं और अब तो चचा चाननराम भी पुत्र बन जायेंगे और दीनदयाल भी और जाने कौन कौन पुत्र बन जायें... और मैं तो मात्र चौथा हूं...

[हरिनाथ प्रवेश करता है— बाल बिखरे, डाढ़ी बढ़ी, धोती और कमीज़ कदरे मैली।]

डा० हंसराज : (उसी कटुता से) अब हरिनाथ को ही ले लो। जीवन-यापन के लिए पत्रिका और प्रेस का रोग लगा बैठा है, और सूरत तो देखो, क्या बनाई है? क्या कम्पोजिटरों के साथ माथापच्ची करना इसके बस की बात है? प्रूफ पढ़ना और अनुवाद करना क्या इसका काम है? यह ठहरा कवि-हृदय, इसे चाहिए था कि यह भ्रमण करता, श्रीनगर, पहलगाँव, मंसूरी, नैनीताल जैसे नगरों की सैर करता। समुद्र तट देखता और फिर शान्ति-निकेतन ऐसे स्थान में जम जाता और अमर काव्यों की रचना करता।

हरिनाथ : (म्लान हँसी से) अरे भाई, ऐसे भाग्य कहाँ?

डा० हंसराज : इसमें भाग्य की कौन सी बात है? तुम्हें शायद

मालूम नहीं—पिता जी को तीन लाख की लाटरी आई है !

हरिनाथ : (आँखें फट जाती हैं और मुँह खुल जाता है) तीन लाख की ?

डा० हंसराज : तीन लाख की ! यही तो मैं कहता हूँ (लगभग भाषण देते हुए) यदि आज वे तीन लाख रुपये वृथा जाने के बदले किसी अर्थ लगजायें तो क्या नहीं हो सकता ? यह कैलाशपति क्या टिकेट-कलेक्टर बनने योग्य है, उसे तो पुलिस इंस्पेक्टर होना चाहिए था ; कुछ रुपये खर्च करके उसे अब भी सीधा सब इंसपेक्टर भरती कराया जा सकता है। गुरु को विलायत भेजा जा सकता है और यदि वह विलायत चला जाय तो अपनी प्रखर बुद्धि के साथ क्या कुछ नहीं कर सकता। कौन उसे आई० सी० एस० बनने से रोक सकता है ?

देव : विलायत भेजने से लाभ ? वहाँ तो दिन रात बमबारी होती रहती है !

डा० हंसराज : (खीझकर) विलायत न सही हिन्दुस्तान में तो बमबारी नहीं होती ।

देव : पर सरकार ये पद प्रतियोगिता से न भरेगी, स्वयं नामजदगियाँ करेगी ।

डा० हंसराज : तो और भी आसान है, नामजदगियाँ पैसे वालों की होती हैं । मैं कहता हूँ, यदि घर में एक भी आई०

सी० एस० हो जाये तो सारे का सारा वंश तर जाता है।

हरिनाथ : (जो काश्मीर तथा नैनीताल की सैर कर रहा है) इसमें क्या संदेह है ?

डा० हंसराज : और मैं क्या माल पर दुकान नहीं ले जा सकता ? ये डाक्टर माथुर, कपूर, भल्ला क्या मुझ से योग्य हैं ? पैसा चाहिए पैसा, माल पर उन जैसा सैनीटोरियम क्या मैं नहीं खोल सकता ?

कमला : (जो इस समय तक चुपचाप मेजपोश बुन रही थी) मैं कहती हूँ, मैं चली जाऊँगी, उन्हें यहाँ ले भी आऊँगी। शेष आप का काम है कि उन्हें फिर न भटकने दें।

डा० हंसराज : (उल्लास से) दिस इज़ लाइक ए गुड गर्ल ।*

हरिनाथ : तुम्हारे बिना यह काम किसी से न होगा, भाभी।

[माँ पाठ करने के बाद माला हाथ में लिये हुए ही बाहर निकलती हैं।]

माँ : हरचरण आया नहीं अभी।

[हरचरण लड्डुओं की टोकरी लिये दाखिल होता है।]

हरचरण : मैं आ गया माँ जी !

गुरु : यह लड्डू कैसे हैं ?

---

*This is like a good girl यह बात है अच्छी बीबी की।

माँ : भगवान का प्रसाद बाँटूँगी।

डा० हंसराज : तो लाओ इसी बात पर मुँह तो मीठा किया जाय।

माँ : (दरवाजे की ओर जाती हुई) न, न, पहले भगवान को भोग तो लगा लिया जाये। (नौकर से) आ रे हरचरण मेरे साथ मन्दिर तक, भगवान......

हरिनाथ : (कवि) हम से बड़ा भगवान कहाँ है।

(सब हँसते हैं।)

(पर्दा गिरता है।)

(पर्दा कुछ क्षण बाद फिर उठता है ।)

[दृश्य वही है । वही बरामदा और उस में का वही सामान। चारपाई वैसे ही बिछी है और उस पर चादर ताने वैसे ही कोई सोया हुआ है। खुर्राटे वह नहीं ले रहा और नींद में बेहोश पड़ा दिखाई देता है।

कुर्सियों में भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ। वैसे ही तिपाई के दोनों ओर पड़ी हैं। हाँ, दो और कुर्सियाँ सामने की ओर को रख दी गई हैं, रसोई-घर से जरा जरा सा धुआँ भी निकल रहा है, यद्यपि उस में से अब सुगंधि नहीं आती, क्योंकि अन्दर चूल्हे में अनवरत सुलगने वाले उपलों के धुएँ ने पंडित

वसन्तलाल के निरन्तर गुड़गुड़ाने वाले हुक्के के धुएँ से मिलकर उसे परास्त कर दिया है।

पर्दा उठने पर, हम दायीं ओर की कुर्सी पर पंडित वसन्तलाल को नशे में मद-मत्त, हाथ में खाली हुक्के की नै लिये, टाँग पर टाँग धरे, बैठे देखते हैं। चिलम शायद भरे जाने के लिये चली गई है। उनके सामने की कुर्सी पर डा० हंसराज बैठे हैं और आकृति उनकी उस कुत्ते की सी बनी हुई है, जो मालिक को खाना खाते देख कर दुम हिलाता हुआ, विनम्र, खुशामदी, लालसाभरी दृष्टि से ताकता हुआ, घुटने टेक कर बैठ जाता है कि तनिक मालिक का ध्यान हो तो दुम हिला दे। उस में और इन में अन्तर केवल इतना ही है कि इन के दुम नहीं, जिसे ये हिला सकें।

दो बार खाली हुक्के को ही गुड़गुड़ा कर पंडित वसन्तलाल चीखते हैं :—]

पं० वसन्तलाल : मर गया वहीं चिलम के साथ !

[स्वर की तीव्रता के बावजूद उस में वह थथलाहट है, जो नशे के आधिक्य की सूचक है।*

रसोई-घर से कैलाश की आवाज आतीहै :—]

---

*इस सारे दृश्य में उन की यह थथलाहट जारी रहती है, और यद्यपि ज्यों-ज्यों वे अधिक पीते हैं, अधिक मुखर होते जाते हैं, किन्तु थथलाहट भी उनकी बढ़ती जाती है।

कैलाशपति : आया पिता जी !

[और कुछ क्षण बाद कैलाशपति रसोई-घर से चिलम हाथ में लिये, उस में फूँकें मारता हुआ आता है।

आश्चर्य कि उस की हिंस्र-दृष्टि का कहीं ढूँढ़े से भी पता नहीं चलता और बर्बर सा न दिखाई देकर वह निरीह सा दिखाई देता है। सिर पर उस के लम्बे-लम्बे बाल नहीं और भवों पर वह तनाव नहीं। सिर पर मशीन फिरी है और जैसे भवों पर भी मशीन फिर गई है, क्योंकि मस्तक पर एक भी तो सिलवट नहीं। चुपचाप बड़े विनम्र-भाव से चिलम लाकर हुक्के पर रख देता है।

पं० बसन्तलाल एक कश लगाते हैं और गुर्राते हैं—]

पं० बसन्तलाल : ईडियट* ! तुझे चिलम भरने की भी तमीज़ नहीं, बी० ए० पास हो गया है।

[कैलाश आँखें उठाता है, जो शायद फ़रियाद कर रही हैं कि पिता जी, मैं बी० ए० में चिलम भरना नहीं सीखता रहा। तभी डाक्टर साहब उचक उठते हैं और अपने पिता के हाथ से चिलम ले लेते हैं।]

---

*Idiot (मूर्ख)

६

डा० हंसराज : सोलह आने मूर्ख हो। भला कहीं इस तरह चिलम भरी जाती है। देखो, उपले की आग को इस तरह, नहीं रखा जाता है। उसके छोटे-छोटे टुकड़े करके रखे जाते हैं और तुम ने तमाखू भी ठीक ढंग से न भरी होगी। (पिता से) मैं जाता हूँ, अभी और चिलम भरके लाता हूँ।

[चिलम लेकर रसोई-घर में चले जाते हैं। कैलाशपति कुर्सी पर बैठने लगता है।]

पं० वसन्तलाल : तुम जरा मेरी टाँगे दबाओ!

[टाँगे तिपाई पर रख लेते हैं और पीछे को लेट जाते हैं। कैलाशपति मौन रूप से पिता की टाँगे दबाने लगता है।

देव प्रवेश करता है—सिर बिलकुल घुटा हुआ है और चोटी खड़ी है, कैलाशपति उस की ओर देखता है और हँसी को बरबस रोकता है।]

-- : वाह देखो, अब कितने अच्छे लगते हो! हमेशा सिर घुटा कर रखा करो! दिमाग ताज़ा रहता है; बुद्धि प्रखर होती है और फिर नहाने धोने में आराम रहता है (तनिक जोश से) और फिर यह पुरुषत्व का चिह्न है। पुरुषों को पुरुष दिखाई देना चाहिए और शेरों की भाँति गर्जना चहिए। (हँसते हैं।) अन्य देशों में तो स्त्रियाँ पुरुष बनती जा रही हैं

और यहाँ पुरुष स्त्रियाँ बनने में गर्व अनुभव कर रहे हैं। जानते हो चोटी का क्या महत्व है ?

[दोनों मौन रहते हैं, केवल उनकी प्रश्नसूचक दृष्टि अपने पिता के चेहरे पर जम जाती है।]

पं० वसन्तलाल: चोटी हिन्दुत्व की निशानी है, हिन्दुओं का अपना जातीय चिह्न है (खाली हुक्के को गुड़गुड़ाते हैं।) फिर सुनता हूँ मनुस्मृति में यह लिखा है कि चोटी बिजली के वेग को रोकती है। यदि कहीं मनुष्य पर बिजली गिरे तो चोटी के मार्ग से शरीर में होती हुई धरती में प्रवेश कर जाती है।

देव : शायद यही कारण है कि प्राचीन काल में ब्रह्मचारी नंगे सिर रहते थे और चोटी को गांठ देकर रखते थे कि वह खड़ी रहे।

कैलाशपति : बिलकुल बिजली के कंडक्टरों की भाँति जो ऊँची ऊँची इमारतों पर लगा दिये जाते हैं—जी वही लोहे के छोटे छोटे तीर अथवा त्रिशूल से—ताकि यदि बिजली गिरे तो इमारत सुरक्षित रहे।

देव : (जिसे अपनी सूझ और स्मृति पर कम गर्व नहीं) और फिर दादा जी कहा करते थे कि प्राचीन काल के ऋषि मुनि इसी चोटी से रेडियो का काम लेते थे और बैठे बिठाये समस्त संसार की ख़बरें सुन लेते थे। संजय ने हस्तिनापुर में बैठे-बैठे महाराज

धृतराष्ट्र को कुरुक्षेत्र के युद्ध की जो ख़बर सुनायी, वह इस चोटी के कारण ही तो थी।

[अपनी इस सूझ तथा स्मृति की प्रशंसा पाने के विचार से अपने पिता की ओर देखता है, जो केवल ख़ामोशी से एक-दो बार हुक्का गुड़गुड़ाकर दाद देते हैं।]

डा० हंसराज चिलम लिए रसोई-घर से निकलते हैं।]

डा० हंसराज : (कैलाशपति की ओर देख कर) देखो अब चिलम भर कर लाया हूँ—पहले तमाखू को भली-भाँति मल कर, उसकी टिकिया बनायी, फिर उसे कंकर पर रखकर, उस पर गुड़ के चूरे की हल्की सी तह जमायी, उस पर फिर और तमाखू बखेरा, अँगूठे से उसे धीरे-धीरे जमाया, नीचे से कंकर को तनिक हिला दिया, ताकि जम न जाय। फिर उस पर उपलों की आग रखी—घंटे भर से पहले चिलम बुझ जाय तो नाम नहीं।

[प्रशंसा की याचक निगाहों से अपने पिता की ओर देखते हुए चिलम हुक्के पर रख देते हैं।

पं० बसन्तलाल हुक्का गुड़गुड़ाते हैं, डा० हंसराज उनके सामने की कुर्सी पर बैठ जाते हैं; और

यद्यपि कैलाशपति तिपाई पर टिकी हुई उन की टाँगें दबा रहा है, वे पाँव दबाने लगते हैं।

कुछ क्षण तक हुक्के की गुड़गुड़ का शब्द बरामदे की निस्तब्धता को भंग करता रहता है और धुएँ के कश छत की ओर जाते हुए, रसोई-घर से उठने वाले धुएँ से मिल कर आकाश की ओर जाते हैं।

डा० हंसराज चुपचाप से खड़े देव को संकेत करते हैं कि वह पीने का सामान लाये और स्वयं अपने पिता के पाँव तनिक और स्निग्धता तथा श्रद्धा से दबाते हुए मतलब की बात आरम्भ करते हैं।]

डा० हंसराज : पं० रघुनाथ कल फिर आया था।

पं० बसन्तलाल : (निपुणता से भरी हुई चिलम के नशे से ऊँघती हुई आवाज़ में) कौन रघुनाथ ?

डा० हंसराज : जो वही रायसाहब चम्पाराम का पुरोहित। देव तथा कैलाश के लिये पूछने आया था, दो बार पहले भी आ चुका है।

पं० बसन्तलाल : (तन्द्रिल पलकें उठा कर) कौन चम्पाराम ?

डा० हंसराज : जी वही जो द्वाबा ही का रहने वाला है—वही जी जिस के पास आप एक बार देव की सिफारिश लेकर गये थे, और जिसने सीधे मुँह बात भी न की थी।

पं० बसन्तलाल : (सहसा उठकर) वह कम्बख्त चम्पाराम......उस को बिल्कुल 'न' कर दो !

[देव मदिरा की बोतल और शीशे का गिलास लाता है ।]

डा० हंसराज : (गिलास से मदिरा डाल कर, उन की ओर बढ़ाकर, बोतल फिर देव को देते हुए) यह 'न' करने का समय नहीं पिता जी । इस समय तो बल्कि 'हाँ' करनी चाहिए । हमारे उस अपमान का, इस से बढ़कर और क्या बदला होगा कि वह अपनी लड़कियों की डोलियाँ हमें दे ।

[पंडित जी गिलास कंठ में उँडेल कर फिर दे देते हैं, डाक्टर साहब बोतल लेकर, उस से तनिक और उँडेल देते हैं ।]

— : (बात को जारी रखते हुए) और फिर चम्पाराम रसूख वाला आदमी है । कैलाशपति को वह सीधा ही सब-इंस्पेक्टर भरती करवा सकता है । देव का उज्ज्वल भविष्य तथा उन्नति भी इस रिश्ते से सुनिश्चित हो सकती है । और फिर इस आदमी से सम्बन्ध करके और बीसों काम निकल सकते हैं—गुरु को मुकाबले में बैठना है, और उस में भी सिफारिश कम काम नहीं करती ।

पं० बसन्तलाल : तो 'हाँ' कर दो !

[फिर टाँगें तिपाई पर रख लेते हैं और पीछे को लेट जाते हैं ।]

डा० हंसराज : (उनके पाँवों को दबाते हुए) किन्तु 'हाँ' किस तरह कर दें। इतने बड़े आदमी की लड़कियाँ घर में यों ही तो नहीं लायी जा सकतीं। उनके लिए सौ सौ सामान चाहिएँ। मैंने आपसे कहा था कि आप बीस बीस हजार रुपया देव तथा कैलाश के नाम लगा दें। और जब तक हम अपनी कोठी नहीं बना लेते, बाहर एक कोठी लेकर रहें। फिर तो मैं 'हाँ' करूँ भी। नहीं तो यों ही 'हाँ' करके अपना अपमान कैसे करवाऊँ (गिलास उठा कर उनको देते हुए) और फिर अभी तो पंडित ही देखकर पूछ गया है, जब स्वयं चम्पाराम आया और उसे ज्ञात हुआ कि लड़कों के पल्ले पैसा भी नहीं तो......

पं० बसन्तलाल : (सहसा उठ कर और टाँगे नीचे करके) देव......

देव : जी !

पं० बसन्तलाल : जाओ मेरी चैक बुक उठा लाओ।

[देव बोतल तथा गिलास कैलाशपति को देकर भाग जाता है।]

— : चम्पाराम को भी मालूम होगा कि बसन्तलाल कोई ऐसा वैसा आदमी नहीं है।

डा० हंसराज : (रहा जमाते हुए) खुशामद तथा चाटुकारी से प्राप्त किये हुए धन का उसे गर्व है। भाइयों का गला काट कर वह आज धनाढ्य......

पं० बसन्तलाल : तो हटाओ, उस नीच की लड़कियों से हम अपने पुत्रों का विवाह न करेंगे।

(फिर पीछे को लेट जाते हैं और हुक्का गुड़गुड़ाते हैं)

डा० हंसराज : (चौंक कर फिर पाँवों को दबाते हुए) विष के मारने को विष महाबली है, पिता जी। धनी का दर्प धन ही से चूर हो सकता है।

[देव चैक बुक ले आता है। डाक्टर हंसराज हाथ बढ़ा देते हैं।]

—: लाओ, इधर लाओ।

[देव चैक बुक डाक्टर साहब को देकर फिर बोतल तथा गिलास थाम लेता है और कैलाश फिर अपने कर्त्तव्य में रत हो जाता है।][1]

—: (फाउंटेन-पेन निकालकर चैक-बुक खोलते हुए) तो बीस हजार कैलास के नाम लिख दूँ।

(लिखते हैं)

— : और देव के नाम। देव तो बड़ा है। उसे दस हजार अधिक मिलना चाहिए तीस हज़ार देव को मिलना चाहिए।

---

[1]यह दृश्य जब तक रहता है पुत्र अपना कर्तव्य भली भाँति निभाते हैं, डा० हंसराज बहुत देर तक अपने पिता को नशे के बिना नहीं रहने देते। कैलाशपति

पं० *बसन्तलाल* : (आँखें बन्द किये पूर्ववत् हुक्का गुड़गुड़ाते हुए) हाँ..हाँ.. उस के नाम तीस हजार लिख दो।

[डा० हंसराज लिखते हैं।
सिर घुटाये, जाँघिये लगाये, तेल की मालिश से शरीर चमकाये कवि हरेन्द्र और भावी आई० सी० एस० गुरु नारायण प्रवेश करते हैं।
पंडित बसन्तलाल फिर उठ कर बैठ जाते हैं।]

पं० *बसन्तलाल* : कितने डंड पेल कर आये ?

गुरु : मैंने जी पचास डंड पेले और पचास बैठक निकालीं।

पं० *बसन्तलाल* : और तुमने हरि।

हरि : मैं पचीस से अधिक नहीं निकाल सका।

एक बार जो टाँगें दबाने लगा है, तो वहीं बैठा है। जब वे टाँगें तिपाई पर रख देते हैं, वह उन्हें दबाना शुरू कर देता है। देव जो एक बार बोतल तथा गिलास लाता है तो उन्हें लिये खड़ा रहता है। जब डा० साहब उस से लेकर मदिरा गिलास से उँडेल देते हैं तो वह बोतल थाम लेता है, पंडित जी जब गिलास खाली कर लेते हैं तो वह उसे थाम लेता है। दूसरों को भी जब कोई काम नहीं होता तो वे अपने पिता के कंधे अथवा बाजू आदि दबाने लगते हैं।

पं० बसन्तलाल : (हुक्के का कश लगाकर) बस प्रतिदिन दो बढ़ाओ। धीरे धीरे तुम देखोगे कि कुछ भी कठिनाई नहीं लगती। इधर आओ !

[दोनों झिझकते हुए अपने पिता के समीप जाते हैं। पं० बसन्तलाल गुरु की गर्दन पर अपनी कलाई से एक धौल जमाते हैं—इतने ज़ोर से कि गुरु बड़ी मुश्किल से सम्हलता है।]

पं० बसन्तलाल : हाँ अब तुम बलवान हो रहे हो। लाओ तनिक पंजा।

[अनिच्छापूर्वक गुरु पंजा देता है। पं० बसन्तलाल उस से पंजा लड़ाते हैं।]

— : मरोड़ो।

[गुरु ज़ोर लगाता है, पर पंजा मरोड़ना तो दूर रहा, हिला तक नहीं पाता। पं० बसन्तलाल छोड़ देते हैं।]

— : पंजा लड़ाने का अभ्यास किया करो। इस से जहाँ हाथ की अंगुलियाँ सुदृढ़ होती हैं, वहाँ कलाई भी सुपुष्ट होती है। जब मैं पढ़ता था तो बड़े बड़ों से पंजा ले लेता था। और फिर यदि किसी की कलाई पकड़ लेता था तो उसे छुड़ाना दुष्कर हो जाता था।

(हरि से) इधर आओ, देखूँ तुझ में कुछ बल आया है या नहीं ?

हरि : (गुरु की गर्दन पर धौल पड़ते देख कर ही जिस का रंग पीला हो गया है।) जी, अभी क्या आया होगा, मैं तो अभी पच्चीस डंड ही मुश्किल से पेल सकता हूँ।

पं० *बसन्तलाल* : नहीं, इधर आओ !

[झिझकता झिझकता हरिनाथ पिता के पास आता है, पं० बसन्तलाल उस की कलाई पकड़ते हैं।]

— : छुड़ाओ, जोर लगाओ।

[बेचारा हरिनाथ भरसक ज़ोर लगाता है, पर छुड़ा नहीं पाता। तब पं० बसन्तलाल झटका देकर उसकी कलाई छोड़ देते हैं।]

— : तुझ में क्या बल आयेगा कम्बख्त। सारा दिन कविताएँ लिखता रहता है। कविताओं से क्या होगा ? और फिर उनसे, जो तू लिखता है। बलवान बन, बलवान ! डंड पेल, कबड्डी खेल, दौड़ लगा, कुश्ती लड़ !...यदि कल तेरी पत्नी को कोई उठाने आ जाय, तो अपने इस तिनके से कोमल शरीर को लेकर तू क्या करेगा, जिसमें न बल है, न साहस। कविता सुना देने मात्र से तो अत्याचारी पीछे न हटेगा।

(हुक्का गुड़गुड़ाकर और खाँस कर) संसार में सदैव लाठी वाले की भैंस होती आई है और लाठी उसके हाथ में होती है, जिसकी भुजाओं में बल हो और सीने में साहस। (फिर कश लगाते, खाँसते और खँखारते हैं।) प्रतिदिन नियमित रूप से व्यायाम किया करो और 'सौंची पक्की' खेला करो ताकि तुम्हारा सीना मज़बूत हो।

डा० हंसराज : यह 'सौंची पक्की' क्या बला होती है?

[पं० बसन्तलाल खड़खड़ाते हुए उठते हैं और गुरु के सामने आ खड़े होते हैं और अपना बायां पाँव आगे बढ़ाते हैं।]

— : अपना बायाँ पाँव आगे बढ़ाओ।

(गुरु अपना पाँव आगे बढ़ाता है।)

— : अब अपनी दोनों हथेलियाँ मेरे सीने पर मारो।

[गुरु झिझकता हुआ अपने दोनों हाथ अपने पिता के वक्ष पर मारता है।]

— : अब पीछे हटो, मैं मारता हूँ। अपने वक्ष पर मेरे हाथ लो!

[पीछे हटकर अपने दोनों हाथ गुरु के सीने पर मारते हैं—इस ज़ोर से कि ग़रीब पीछे गिरता गिरता बचता है।]

दीनदयाल प्रवेश करता है और गुरु, जिसका सीना केवल एक बार की 'सौंची पक्की' से दर्द करने लगा है, पीछे हट जाता है।

दीनदयाल पं० बसन्तलाल ही की आयु का व्यक्ति है। बड़े अच्छे सूट में आवृत है। आकृति उसकी ऐसी है कि उसे देखकर उसके आन्तरिक भावों को जान लेना बड़ा कठिन है। यद्यपि आयु ने उसके चेहरे पर अपनी रेखाएँ बनानी आरम्भ कर दी हैं, तो भी वह काफ़ी भरा हुआ है। ओठों की सहज-मुस्कान और स्वभाव की, अभ्यास से पैदा की हुई, विनम्रता ने उसपर एक खोल सा चढ़ा रखा है। केवल उसकी आँखों में कुछ ऐसी अमानुषिक चमक है, जो उसके इस खोल का भेद खोल देती है, पर उस चमक को पहली नज़र में देख लेना साधारण व्यक्ति के बस की बात नहीं।]

दीनदयाल : वाह, खूब अखाड़ा बना रखा है। तुम भी...... बसन्तलाल... (हँसता है।) तुम्हें सभ्यता कभी न छुएगी।

[बसन्तलाल गुरु को उसकी निर्बलता पर कुछ कहने ही जा रहे थे कि दीनदयाल को देखकर वापस आकर कुर्सी में धँस जाते हैं। गुरु गिरता गिरता सम्हल कर 'नमस्कार' करता है; देव के हाथ खाली नहीं; इसलिए वह बोतल और गिलास

समेत हाथों को मस्तक से लगाकर अभिवादन करता है, हरिनाथ अपने आप को इस वेश में देख कर घबरा जाता है और 'नमस्कार' करना भूल जाता है; केवल डाक्टर साहब सहज-भाव से उठकर 'नमस्कार' करके कुर्सी पेश करते हैं।]

पं० बसन्तलाल : (कुर्सी में धँसते हुए) सभ्यता......

[देव से बोतल और गिलास लेना चाहते हैं। डा० हंसराज व्यस्त होते हुए स्वयं बोतल और गिलास लेकर पैग बनाकर उन्हें देते हैं।

— : (एक ही बार उसे कंठ में उँडेल कर, दीनदयाल का कंधा पकड़ कर झकझोरते हुए) **आजकल की सभ्यता में है क्या ! उसमें साहस कहाँ है ? दयानतदारी कहाँ है ? सत्य कहाँ है ? सहिष्णुता, सहानुभूति, दया, और कृतज्ञता कहाँ है ?** (हुक्का गुड़गुड़ाते हैं।) **यह सभ्यता दिखावे की सभ्यता है,** छल, कपट, और प्रपंच की **सभ्यता है यह । ब्राह्मण की सभ्यता नहीं, क्षत्रिय की सभ्यता नहीं, यह वैश्य की सभ्यता है।** (खँखारते और झूमते हैं।) **रुपये के बल पर पुत्र को पिता के विरुद्ध खरीद लो; भाई को भाई के विरुद्ध खरीद लो; नौकर को स्वामी के विरुद्ध खरीद लो; मित्र को मित्र के विरुद्ध खरीद लो और देशसेवक को राष्ट्र के विरुद्ध खरीद लो।** (दीनदयाल

को बाजू से पकड़ कर झकझोरते हुए) तुम किस सभ्यता का ज़िक्र करते हो, आज पैसे के बल पर मैं सारी दुनिया और उसकी सभ्यता को ख़रीद सकता हूँ। (टाँगें तिपाई पर रख कर पीछे लेट जाते हैं।) आज जिस पागल को कोई पूछता नहीं, जिसके मस्तिष्क में सोलह आने भुस भरा हुआ है, कोई बड़ा आदमी तो क्या क्लर्क तक जिस मूर्ख से बात करना पसन्द नहीं करता, उसके पास आज यदि कहीं से धन आ जाय तो कल बड़े से बड़ा आदमी उसे अपना दामाद बना सकता है। सभ्यता...(हँसते हैं और नशे में कुर्सी पर ही झूलते हैं।) मैं पूछता हूँ, इसमें हड्डी कहाँ है? स्थायित्व कहाँ है? इस लचलचाती, खोखली सभ्यता की दुहाई देकर तुम मेरा उपहास उड़ाना चाहते हो कम्बख्त......

(हुक्का गुड़गुड़ाते हैं।)

दीनदयाल : (चतुर) और तुम्हें इस नंग धड़ंग सभ्यता का मान है। है न ?

९० *बसन्तलाल* : (दीनदयाल के जाल में फँस कर जोश के साथ) इस में अपनापन तो है, निजत्व तो है। (फिर हुक्के का कश

खींचते हैं।) यह चिलम तो बुझ गई। (चिलम को उतार कर देखते हैं।) इन कम्बख्तों को कभी चिलम तक न भरनी आयगी।

[कैलाशपति वहीं बैठा बैठा उस व्यंग्य भरी मुस्कान से डाक्टर साहब की ओर देखता है जो कदाचित यह कह रही है कि यदि मूर्खता का यही मान-दंड है तो इस दृष्टि से हम सभी सोलह आने मूर्ख हैं। परन्तु डाक्टर हंसराज उसकी ओर नहीं देखते, चिलम अपने पिता से लेकर वे हरिनाथ की ओर बढ़ा देते हैं।]

डा० हंसराज : इसे भागकर भर लाओ हरि।

[और वह बड़ी सुकोमल अभिरुचि का सात्विक, परहेज़गार कवि, जिसे सिगरेट और शराब के नाम ही से घबराहट होती थी, लपक कर चिलम ले लेता है और रसोई-घर की ओर जल्दी से बढ़ता है।]

पं० बसन्तलाल : (खाली हुक्के गुड़गुड़ाते हुए दीनदयाल से) सुन्दर आवरणों में आवृत, मात्र दिखावे की इस सभ्यता में वह निजत्व कहाँ। इसने तुमसे तुम्हारा अपनापन

छीन लिया है। तुम 'तुम' कहाँ हो। भाषा तुम अपनी नहीं बोलते, चाल तुम अपनी नहीं चलते, वेश-भूषा तुम्हारी अपनी नहीं। तुम्हारा जो कुछ है दूसरों का है, दूसरों के लिए है।

(देव के हाथ में की बोतल की ओर देखते हैं।)

डा० हंसराज : देव इधर लाओ।

पं० बसन्तलाल : नहीं रहने दो, मैं होश खो दूँगा।

दीनदयाल : तुम सा पियक्कड़ एक बोतल में होश खो देगा!

(हँसता है।)

पं० बसन्तलाल : (मदमस्त निगाहों से उसकी ओर देखते हुए) यह दूसरी है, सुबह से पी रहा हूँ......सुन लिया...... अब भूल कर भी मुझे सभ्य-असभ्य का ताना न देना।

दीनदयाल : (अपने आदमी होने पर गर्व के साथ) तुम कोई आदमी हो, शिष्टाचार तुममें नाम को नहीं।

पं० बसन्तलाल : (तुनक कर उसके घुटने को झकझोरते हुए) जिसे तुम शिष्टाचार, एटीकेट (Etiquette) कहते हो, इसके चक्कर में पड़े कि गये। फिर रुकाव नहीं! प्रात: उठने के साथ ही यह शिष्टाचार गला दबा लेता है। यह करो, यह न करो; यह पहनो, यह न पहनो ऐसे चलो, ऐसे न चलो; ऐसे बोलो, ऐसे न बोलो;;

ऐसे हँसो, ऐसे न हँसो; ऐसे रोओ, ऐसे न रोओ! (हँसते हैं, खाली हुक्का गुड़गुड़ाते हैं।) यहां तक कि तुम अपनी स्वाभाविक बोली, पहनावा, चाल-ढाल हँसी रुदन सब कुछ भूल जाते हो।

(खाली हुक्का गुड़गुड़ाते हैं।)

ला० बसन्तलाल : मैंने एक युवक को देखा, जब उसने वकालत पास की तो अच्छा भला समझदार, मृदु-भाषी सरल, हँस-मुख युवक था। स्वाभाविक रूप से हँसता-बोलता था। फिर वह आई० सी० एस० हो गया। लगे शिष्टाचार और सभ्यता उसका गला दबाने। एक पार्टी में मैंने उसे देखा। बस उसमें शिष्टाचार और सभ्यता ही थी और कुछ न था। न वह भाषा न स्वर, न हँसी न बोली, न चाल न ढाल, उसका अस्तित्व तक कृत्रिम नजर आता था। मुझे उस बेचारे पर दया हो आई!

(खाली हुक्के को गुड़गुड़ाते हैं और जोर से चीखते हैं।)

— : अरे हरि, मर गया चिलम के साथ वहीं! (फिर दीनदयाल से) और फिर सभ्य-समाज के इन नियमों का अन्त कहाँ है। ज्यों ज्यों सभ्य से सभ्यतर समाज में जाओ, 'ऐसे करो', 'ऐसे न करो' की बेड़ियाँ अपने पाँवों में बढ़ाते जाओ! मेरा तो ऐसी

सभ्यता में दम घुट जाय।

(हरिनाथ चुपचाप आकर चिलम रख देता है)

डा० हंसराज : पिता जी ने निश्चय किया है कि तीस हज़ार के खर्चे से एक विशाल व्यायाम शाला खोलेंगे।

दीनदयाल : लेकिन तुम्हारे इन डंड बैठकों और 'सौंची पक्की', से होगा क्या, लोग तोपें और तलवारें......

पं० बसन्तलाल : (देव से लेकर थोड़ा सा और पेय कंठ में उँडेल कर और दीनदयाल का हाथ थाम कर उसे सुझाते हुए) तोपें तलवारें क्या भगोड़े चला सकेंगे, उनके लिए मानसिक और शारीरिक बल की आवश्यकता है। शरीर में बल हो, मन में साहस हो तो लाठी की जगह तलवार, बंदूक या तोप ले सकती है और कुश्ती का स्थान युद्ध।

दीनदयाल : लेकिन महात्मा गाँधी तो अहिंसा का प्रचार कर रहे हैं।

पं० बसन्तलाल : (हाथ छोड़ कर उसका कंधा पकड़ते हुए) महात्मा गाँधी की अहिंसा बलवानों की अहिंसा है, ठोस आदमियों की अहिंसा है, भगोड़ों या हीजड़ों की अहिंसा नहीं। मैं अपने बेटों के नाम बीस हज़ार रुपया लगाने जा रहा हूँ और मैं चाहता हूँ कि उस रुपये को पाकर भी वे अपना निजत्व क़ायम रखें।

[बोतल से काफ़ी बड़ा पैग भरकर एक ही बार पी लेते हैं और कुर्सी पर पीछे को लेट जाते हैं, टाँगें भी उठाकर कुर्सी पर रख लेते हैं, आँखें बन्द कर लेते हैं और मौन रूप से हुक्का गुड़गुड़ाते हैं।]

डा० हंसराज : (घूम फिर कर पुनः मतलब की बात पर आते हुए) परन्तु गुरु का भी तो बताइए, वह कम से कम एम० ए० तक पढ़ेगा और मेरी प्रबल इच्छा है कि वह आई० सी० एस० की प्रतियोगिता में बैठे !

पं० बसन्तलाल : (वहीं लेटे लेटे) दस हज़ार उसके नाम लिख दो !

डा० हंसराज : पर अभी आपने कहा था कि मैं हर एक के नाम बीस हज़ार रुपया लगवा दूँगा।

गुरु : और फिर इन सब की पढ़ाई पर तो इतना ख़र्च आया है, मेरी......

पं० बसन्तलाल : (डा० हंसराज से) बीस हज़ार इसके नाम लिख दो !

दीनदयाल : (सुअवसर देखकर) कहो भाई हरि, तुम ने उस मशीन के सम्बन्ध में निश्चय किया है या नहीं ?

हरिनाथ : मेरी ओर से तो निश्चय ही निश्चय है। शेष सब तो पिता जी पर निर्भर है।

दीनदयाल : क्यों भाई बसन्तलाल, तुम इसे बड़ी सिलंडर

मशीन क्यों नहीं लगवा देते ? उस खिलौने की ठिच-ठिच में यह क्या लगा रहता है। देखो इसे सिलंडर मशीन लगवा दो ! अच्छा मशीन मैन रखे, अच्छा टाइप मँगवाये, फिर देखो दिनों में ही इसका प्रेस और पत्र कहाँ जाता है।

पं० बसन्तलाल : (जगभग ऊँघते हुए) कितने को आती है ?

दीनदयाल : आजकल तो उसकी कीमत बाईस हज़ार हो गई है। लोहे का मूल्य दिन प्रति दिन चढ़ रहा है, पर मैंने जो कह दिया, कह दिया। अपने वचन से बँधा मैं बैठा हूँ। इतने दिन से मैंने केवल इसके लिए ही रख छोड़ी है। हरि ने इच्छा प्रकट की थी। किन्तु यदि और दस दिन यह मशीन पड़ी रही तो उसका मूल्य दुगुना हो जायगा, फिर मैं विवश हो जाऊँगा और तुम भी बसन्तलाल, फिर मुझे कुछ न कहना !

पं०बसन्तलाल : (नशे की झोंक में) बाईस हजार का चैक दीनदयाल के नाम काट दो।

डा० हंसराज : लेकिन इन बाईस हज़ार से क्या होगा ? सिलंडर मशीन आयेगी तो क्या टाइप वही घिसा हुआ रहेगा, जिसकी मात्राएँ छोड़, शब्द के शब्द उड़ जाते हैं, और फिर काम बढ़ाने के लिए हाथ में क्या पूँजी न चाहिए।

दीनदयाल : मैं कहता हूँ बसन्तलाल, इन एक दो महीनों में तुमने लगभग एक लाख रुपया उड़ा दिया है, उस दिन तुमने उस उठाईगीर ब्राह्मण को दो हज़ार रुपये तीर्थाटन के लिए दे दिये !

पं० बसन्तलाल : वह बड़ा श्रेष्ठ व्यक्ति था।

डा० हंसराज : पिता जी सा दिल रखने वाला लाखों में—मैं कहता हूँ—लाखों में क्या, करोड़ों में कोई विरला ही मिलेगा। चच जी, आपसे क्या छिपा है—एक दिन घर में कुछ तंगी थी। माँ किसी से बीस रुपये उधार लाई थी। वे सब पिता जी ने एक 'श्रेष्ठ व्यक्ति' को दे दये। श्रेष्ठ व्यक्तियों की जो पहचान इन्हें है, वह किसे होगी ?

दीनदयाल : तीन चार हज़ार टाइप के लिए चाहिए। फिर प्रूफ़ निकालने वाला प्रेस और कटिंग मशीन भी तो ख़रीदनी पड़ेगी। फिर दस एक हज़ार रुपया हाथ में चाहिए, नहीं तो छापाखाना सफ़ेद हाथी बन जाता है।

डा० हंसराज : मैं पैंतीस हजार लिखने लगा हूँ।

पं० बसन्तलाल : तुम सैंतीस हज़ार लिख लो।

[उठकर गिलास देव के हाथ से लेते हैं। सैंतीस हज़ार का नाम सुनकर कवि हरिनाथ का चेहरा दुगुना

हो जाता है। विद्युत की सी तेज़ी से इधर उधर वह देखता है कि वह क्या कर सकता है। जी उसका चाहता है कि अपने इस पिता के पाँवों से लिपट जाय, जब कुछ नहीं सूझता तो गिलास अपने पिता के हाथ से लेकर और बोतल देव के हाथ से लेकर वह बड़ी तत्परता से मदिरा ढालकर गिलास अपने पिता को दे देता है।]

पं० बसन्तलाल : (गिलास दीनदयाल की ओर बढ़ाकर) **अरे तुमने लिया ही नहीं, मैं तो भूल ही गया, लो न** (और आगे बढ़ाते हुए) **लो !**

दीनदयाल : (लालसा भरी दबी दृष्टि से गिलास की ओर देखकर) **नहीं......नहीं......**

पं० बसन्तलाल : (बरबस गिलास उसके हाथों में देते हुए) **अरे लो।**

दीनदयाल : (गिलास को एक ही घूँट में खाली करके और पेय की कड़वाहट के कारण तनिक खाँस कर और रुमाल से मुँह साफ़ करके) **तुम्हें तो पता है बसन्तलाल, मैं रवि और मंगल के दिन नहीं पीता।**

पं० बसन्तलाल : (अपने लिए पैग बनाते हुए) **और ये सब कहते हैं कि तुम शराबी हो।** (गिलास खाली करके अपने पुत्रों को सम्बोधित करते हुए) **देखो कितना संयम है दीनदयाल में। मंगल और रवि के दिन यह बिल्कुल नहीं पीता,** (शून्य में हाथ से घेरा बनाते हुए) **यह इस**

युग का राजा जनक है, धन और ऐश्वर्य में रहते हुए भी सर्वथा निर्लिप्त !

[पीछे की ओर लेट जाते हैं। चचा चाननराम प्रवेश करते हैं, डाक्टर हंसराज और दूसरे भाई उठकर 'नमस्ते' करते हैं। चचा चाननराम पंडित बसन्तलाल के पाँव छूते हैं।]

पं० बसन्तलाल : (उठकर आशीर्वाद देते हुए) चिरंजीव रहो (फिर अपने पुत्रों से) एक तुम हो कि अपने शिष्टाचार और सभ्यता को लिये फिरते हो। बड़ों का सत्कार इस तरह किया जाता है ? (नकल उतारते हुए)—"चचा जी नमस्ते"—गोली मारो नमस्ते को !—प्रणाम करो सब !

[फिर टाँगें तिपाई पर रख लेते हैं और पीछे को लेट जाते हैं। सब भाई बारी बारी चचा चाननराम के घुटनों को छूते हैं। और वे 'चिरंजीव रहो,' 'चिरंजीव रहो' कहते हुए दीनदयाल के साथ वाली कुर्सी पर डट जाते हैं।]

चाननराम : (नये मिले सत्कार से फूल कर, बैठते ही) मैं कहता हूँ, अब जगह ख़रीदने और कोठी बनवाने का पचड़ा मोल लेने की आवश्यकता नहीं।

(डा० हंसराज प्रश्न-सूचक दृष्टि से देखते हैं।)

चाननराम : तीस हजार में बनी बनाई कोठी मिल सकती है, मेरा मित्र है न लज्जाराम, कमीशन एजेंट, उसने मुझे उस कोठी का पता बताया है। गैरेज है, लान है, ड्राइंगरूम है, दस कमरे हैं, सुन्दर स्नानगृह है, फ्लश-सिस्टम है, छोटी सी बैडमिंटन कोर्ट है, मैं कहता हूँ क्या नहीं है ? और फिर इर्द-गिर्द चार दीवारी है, चाहो तो मजे से वहाँ अखाड़ा बनवा लो, मुगदर रख लो।

पं० बसन्तलाल : बस वह कोठी ले लो...

डा० हंसराज : मैं देख लूँ।

पं० बसन्तलाल : देखने की क्या जरूरत है, चाननराम ने जो देख ली है।

चाननराम : मेरे मित्र लज्जाराम ने कहा कि पं० बसन्तलाल के लिए उस से अच्छी कोठी सारे लाहौर में कहीं नहीं मिल सकती और दुनिया इधर की उधर हो जाय, मेरा मित्र झूठ नहीं बोल सकता।

दीनदयाल : साधारण दलाल से जो वह इतना बड़ा कमीशन-एजेंट बन गया है कि दो दो कारें उसके दरवाजे पर खड़ी रहती हैं, यह सब उसकी 'सत्यवादिता' ही का तो चमत्कार है।

डा० हंसराज : बहरहाल मैं तीस हजार का चैक कोठी के खाते काट रखता हूँ, पर पहले मैं उसे देखूँगा जरूर।

चाननराम : मेरे मित्र लज्जाराम ने मुझे रियायती दाम बताये हैं।

पं० बसन्तलाल : लज्जाराम बड़ा श्रेष्ठ व्यक्ति है।

दीनदयाल : इसमें क्या सन्देह है।

चाननराम : (डा० हंसराज से) और कहो बेटा, तुमने कौन सी जगह अपने काम के लिए पसन्द की?

डा० हंसराज : (फिर अपने पिता के पाँव दबाते हुए) जगह तो मैंने पसन्द कर ली है और आप भी पसन्द कर लेंगे। माल पर है, और बिल्कुल अलग है, पर किराया वे छै महीने का पेशगी माँगते हैं।

चाननराम : हाँ किराया तो माँगेगे ही। पर क्या डर है, यदि जगह अच्छी हुई तो दे देना। कहाँ है?

डा० हंसराज : अजी वही जो हालरोड और मालरोड के चौराहे पर है।

चाननराम : (लगभग उछल कर) चौराहे पर! तब तो मेरे मित्र लज्जाराम ने ठीक ही कहा था, टेम्पल रोड के बिल्कुल पास! वहीं वह कोठी है, जिसका मैंने जिक्र किया।

डा० हंसराज : बेहद मौके की जगह है—एक ओर माल

है दूसरी ओर हाल। छोटा सा लॉन आगे है, गेरेज भी है। और मोटर के लिए गोल मार्ग बना हुआ है। (धीरे से) प्रेक्टिस जमाने के लिए मोटर तो रखनी ही पड़ेगी।

चाननराम : किराया क्या है ?

डा० हंसराज : तीन सौ रुपया मासिक !

चाननराम : ऐसी कोठी का तो साल भर का किराया पेशगी दे देना चाहिए।

पं० बसन्तलाल : (जो इस बीच में नशे में गुट पड़े रहे हैं) दो साल का पेशगी दे दो !

दीनदयाल : (जो शायद चुप बैठा ऊब गया है और जिसे सहसा अपनी मशीन के बेचने का ख्याल आ गया है।) जगह भी तो माल पर है।

डा० हंसराज : और वहाँ दस एक बिस्तर भी आ सकते हैं—बीमार के—मैं जो सेनीटोरियम खोलना चाहता हूँ, उसकी नींव इसी तरह तो पड़ेगी। खास रोगियों का उपचार मैं वहाँ किया करूँगा और अपनी प्रसिद्धि के लिए अपनी सेवाएँ किसी फ्री अस्पताल को फ्री* दे दूँगा। डा० तूम्बा क्या करता है ?...

---

* निःशुल्क।

राधेश्याम फ्री अस्पताल में उसने अपनी सेवाएँ दे रखी हैं, पर आपरेशन जो वह करता है, उन में से ७५ प्रतिशत सीधे स्वर्ग के पासपोर्ट सिद्ध होवे हैं। किन्तु इसी तरह तो अनुभव प्राप्त होता है। और आप देख लीजिएगा, कल लूम्बा शैतान की तरह प्रसिद्ध हो जायगा। जिसके हाथों कम से कम सौ आदमी मुक्ति न पा जायँ, वह सर्जन कैसा !

चाननराम : तुमने कृष्ण के सम्बन्ध में भी कुछ सोचा ?

डा० हंसराज : मैं उसे अपने साथ रखूँगा। शुरू शुरू में उसका उत्साह बढ़ाने के लिए जो आप कहेंगे, दे भी दूँगा। और मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ, मेरे साथ यदि वह दो वर्ष रह गया तो निपुण सर्जन बन जायगा।

चाननराम : वह स्वयं होशियार है। कालेज में प्रोफ़ेसर उसकी प्रशंसा करते थे। वह तो कहता था—मुझे अलग से दुकान खोलवा दो ! पर मुझ में हिम्मत नहीं।

डा० हंसराज : सब कुछ पिता जी पर निर्भर है, मैं आपकी भरसक सहायता करूँगा। कृष्ण......

पं० बसन्तलाल : (खुमारी से जागते हुए) कृष्ण बड़ा श्रेष्ठ लड़का है।

(आँखें बन्द किये हुए हुक्का गुड़गुड़ाते हैं।)

चाननराम : आप भाई साहब, हंस को मालरोड पर दुकान क्यों नहीं खुलवा देते। अब मौके की जगह मिल रही है, फिर कौन जाने वर्ष भर जगह न मिले। वहाँ दुकान खोलते ही हंस का नाम प्रान्त भर में प्रसिद्ध हो जायगा।

पं० बसन्तलाल : (पूर्ववत् आँखें बन्द किए) तो खोल लो वहाँ!

चाननराम : खोल कैसे लें? कल आप तो रुपया उड़ा दें और इसके लिए उस दूकान का किराया तक देना कठिन हो जाय। देखो भाई, हंस के नाम तीस चालीस हज़ार रुपया लगा दो।

डा० हंसराज : तीस चालीस हज़ार से क्या होगा (दीनदयाल से) क्यों चाचा जी, सामान तो आप के यहाँ से ही आयगा। माल पर दुकान जमाने के लिए बीस हज़ार तो सामान पर ही लगाना पड़ेगा और फिर कार भी रखनी पड़ेगी और शोफ़र भी और नौकर भी।

[पंडित बसन्तलाल उठकर देव की ओर हाथ बढ़ाते हैं। डा० हंसराज गिलास में काफी पेय डालकर उनको देते हैं।]

— : (अपनी बात जारी रखते हुए) कम से कम पचास हज़ार तो मुझे दिया जाय।

चाननराम : पचास हज़ार से कम में कैसे काम चल सकता है!

दीनदयाल : माल पर लाख भी लग जाय तो अधिक नहीं।

पं० बसन्तलाल : (गिलास खाली करके मूँछें पोंछते हुए) तो पचास हज़ार लिख लो ! (गिलास मेज़ पर पटक कर पीछे लुढ़कते हुए) देव कुछ गाओ !

(देव चुप रहता है।)

(उसी प्रकार नशे में आँखें बन्द किये कड़क कर) गाओ ?

देव : जी मैं......

पं० बसन्तलाल : कहता हूँ गाओ ! (ज़ोर से हवा में हाथ मारते हैं, हुक्का गिर जाता है, और चिलम दूर तक लुढ़कती जाती है) गाओ !

(अत्यन्त बेसुरे तौर पर देव गाना आरम्भ करता है।)

"ओ जीने वाले......हँसते हँसते जीना !"

पं० बसन्तलाल : (उठकर झूमते हुए) चल कमबख्त, तू क्या गायगा ? मैं गाता हूँ।

डा० हंसराज : (हस्ताक्षर करने के लिए चैक बुक अपने पिता के सामने करके, फाउंटेन कलम उनके हाथ में देते हुए) पिता जी जब गाया करते थे तो उनका स्वर मीलों तक लहराता चला जाता था।

[सब चैकों पर हस्ताक्षर करके बोतल का शेष पेय गले में उंडेल कर, लड़खड़ाते हुए, पंडित बसन्तलाल उठते हैं और थथलाती लेकिन अत्यन्त सुरीली और ऊँची आवाज में गाना शुरू करते हैं।

"दे डारो राधे रानी बाँसुरी मोरी"

किन्तु उनका स्वर फट जाता है और वे लड़खड़ाते हुए कुर्सी पर गिर पड़ते हैं]

पं० बसन्तलाल : जब मैं स्कूल में पढ़ता था तो कृष्ण बना करता था, और मेरा स्वर...पर अब इस शराब कम्बख्त ने मेरा सत्यानाश कर दिया है। मेरा वह स्वर नहीं रहा, मेरा वह कंठ नहीं रहा, मेरी वह देह नहीं रही। (सहसा कंठ भर लाते हैं।) देखो बेटा, इस कम्बख्त को मुँह न लगाना, इस कम्बख्त ने......

[हुक्के को हाथ से टटोलते हुए नशे में बेहोश हो जाते हैं।]

डा० हंसराज : ये तो गुट हो गये।

पं० बसन्तलाल : (उठने का विफल प्रयास करते हुए) कौन कहता है। मैं अभी पूरी बोतल चढ़ा सकता हूँ। दीनदयाल आओ......

दीनदयाल : (उठता हुआ) तुम्हें तो मालूम है। मैं मंगल और रवि के दिन नहीं पीता।

(वसन्तलाल फिर मदहोश हो जाते हैं।)

(पर्दा गिरता है।)

(पर्दा धीरे धीरे उठता है।)

[सामने स्टेज पर अँधेरा है, किन्तु प्रकाश से सहसा अंधकार में आने पर यद्यपि आँखें कुछ भी नहीं देख पातीं, तो भी उससे तनिक अभ्यस्त होने पर वे देखना आरम्भ कर देती है। और फिर यहाँ तो सामने के दरवाजों के शीशे अन्दर के प्रकाश के कारण चमक रहे हैं। इसलिए कुछ कुछ दिखाई देने लगता है।

सामने एक बरामदा दिखाई देता है, वह हमारा पूर्व परिचित बरामदा है या कोई और, यह बात निश्चय के साथ नहीं कही जा सकती। सामान उसमें कुछ नहीं और शायद इसलिए कुछ खुला खुला सा दिखाई देता है। केवल एक ओर एक

चारपाई बिछी नजर आती है और अंधकार से तनिक और अभ्यस्त होने पर हम देखते हैं कि उस पर कोई सोया हुआ भी है।

एक दो बार कुछ अव्यवस्थित से खुर्राटों की आवाज भी आती है। फिर खामोशी छा जाती है। फिर दो छायाएँ स्टेज पर आती हैं।]

एक : नहीं चचा जी, आप हमारी खातिर यह कष्ट न कीजिए, भला मैं यह कैसे सहन कर सकता हूँ कि हमारे लिए आप को चार पाँच हज़ार की हानि सहन करनी पड़े। आप उस मशीन को बेच दीजिएगा।

दूसरी : किन्तु इतनी सस्ती और अच्छी मशीन आप को इतने सस्ते में हाथ न आयगी और फिर और दस दिन तक उस की क़ीमत दुगुनी हो जायगी।

[आवाज से हम जान लेते हैं कि यह दो छायाएँ डा० हंसराज तथा दीनदयाल के अतिरिक्त कोई नहीं।]

डा० हंसराज : (गम्भीरता के आवरण में आवृत्त व्यंग्य से) तो मेरी राय में आप उसे अभी और दस दिन तक रख छोड़ें, जब उसकी क़ीमत दुगुनी हो जाय तो उसे बेच डालें......

दीनदयाल : मुझे तो पं० बसन्तलाल का ख्याल था।

डा० हंसराज : उनका ख्याल अब आप छोड़ दें। आप ने उन का पहले ही कम ख्याल नहीं रखा।

दीनदयाल : (व्यंग्य को सुना अनसुना करके) लेकिन हरि...

डा० हंसराज : हरि का अभी प्रेस बढ़ाने का कोई इरादा नहीं।

दीनदयाल : पर तुमने......

डा० हंसराज : हाँ, मैंने तो कहा था, पर हरि ठहरा अस्थिर चित्त का व्यक्ति ! तब उस का विचार था कि प्रेस चलायगा, बढ़ायगा, पर अब मैं देख रहा हूँ कि वह पहला भी बेच कर कहीं काश्मीर, नैनीताल जाने की सोच रहा है। कवि तथा पागल को तभी तो विद्वानों ने एक सा समझा है।

दीनदयाल : (वंश का शुभचिन्तक) समय बड़ा कठिन है। ऐसे वक्त तुम उसे किस तरह यों बेकार आवारागर्दी करने की सलाह दे सकते हो ! मेरे पास जो मशीन है...

डा० हंसराज : लेकिन चचा जी, मशीन को लेकर वह करेगा क्या ? कागज़ तो बाज़ार में मिलता नहीं। जितना कागज़ निकलता है, वह तो सरकार अपने दफ़्तरों के लिए ले जाती है और दफ़्तरों में आप जानते हैं, दो पंक्तियाँ लिखना हो तो पूरा फुलस्केप का कागज़ नष्ट कर दिया जाता है। बाहर से कागज़ आता नहीं। बड़े-बड़े

पुराने जमे हुए छापेखानों के मालिक अस्थायी रूप से काम बन्द करने की सोच रहे हैं, फिर बेचारा हरि तो, इस झंझट को पहले ही चला नहीं पाता।

दीनदयाल : खैर उसकी इच्छा! पर तुम माल पर दुकान खोल रहे थे, तुम्हें सामान चाहिए था और तुम ने कुछ भी पता नहीं दिया।

डा० हंसराज : मुझे युद्ध में खेमे सप्लाई करने का ठेका मिल गया है। हिस्सेदारी तो है, पर ठेका भी पाँच लाख का है।

दीनदयाल : किन्तु मैंने तो तुम्हारे लिए सामान मँगा रखा था।

डा० हंसराज : आपके दुगुने हो जायँगे, कुछ दिन और रख छोड़िए!

दीनदयाल : (निरन्तर हमलों से घबराये विना) परन्तु......

डा० हंसराज : मैं तो पहला भी बेचने की सोच रहा हूँ।

दीनदयाल : (अडिग पर आश्चर्य से) हरि भी मशीन बेचना चाहता है और तुम भी सामान बेचना चाहते हो!

डा० हंसराज : आप विश्वास कीजिए। जब इसमें लाभ ही नहीं तो क्या करें। वह छापेखाने में बैठा दिन दिन भर मक्खियाँ मारा करता था और मैं दवाखाने में। वह कवि है, इस लिए जरूरी नहीं कि एक ही व्यवसाय को गले बाँधे और मैं कवि नहीं कि एक ही व्यवसाय को गले से चिमटाये रखूँ।

दीनदयाल : तुम्हारी यह परस्पर-विरोधी बात मेरी समझ में नहीं आयी ।

डा० हंसराज : बात यह है कि कवि स्वभावतया अस्थिर चित्त का व्यक्ति होता है और किसी एक व्यवसाय को अपनाये रखना उस के बस की बात नहीं होती, लेकिन यदि वह ऐसा करता है तो केवल भावुकता-वश । और यदि भावुकता-वश वह एक व्यवसाय से चिमट जाय तो फिर वह उसे नहीं छोड़ता, चाहे उस के प्राण भी क्यों न वहीं होम हो जायँ। व्यापारी आदमी निरन्तर हानि होने पर भी जहाँ एक व्यवसाय में टिका, समझिए वह कवि हो गया । मैं शुद्ध व्यापारिक बुद्धि रखता हूँ । मैं कवि नहीं इसलिए क्यों एक खसारे के काम को गले लगा रखूँ ?

दीनदयाल : (तनिक और समीप होकर भेद भरे स्वर में) तो देखो जब तुम सामान अथवा मशीन बेचने लगो, मुझ से पूछ लेना, मैं महँगे से महँगे दाम पर तुम दोनों की चीजें बिकवा दूँगा ।

[दीनदयाल की छाया आलोप हो जाती है, एक दूसरी छाया आती है :]

— : दीनदयाल आया था ?

[आवाज से हम जान लेते हैं कि डा० हंसराज की संगिनी श्रीमती कमला देवी हैं ।]

डा० हंसराज : मैंने उसे धता बता दी।

कमला : पर आप ने तो वचन दिया था।

डा० हंसराज : वचन न देता तो ये लोग पिता जी को भड़का न देते! रिश्वत......रिश्वत......रिश्वत। आज की दुनिया में जितने काम इस से निकलते हैं, उतने किसी से नहीं निकलते। फिर इस रिश्वत का रूप रुपया भी हो सकता है, भेंट पुरस्कार भी, प्रशंसा भी, खुशामद भी और लूट का हिस्सा भी—ये दोनों चचा साहबान आसानी से जितना धन लूट सकते थे लूट चुके थे। और लूटने के लिए इन्हें बहाना चाहिए था। वह बहाना उपस्थित करके मैंने इन्हें अपने और दूसरे भाइयों के मामले में चुप रहने की रिश्वत दी। दीनदयाल ने समझा हरि उसकी वह पुरानी मशीन खरीद लेगा, जिसे आज आठ वर्ष से सारे लाहौर में किसी ने नहीं लिया और हंसराज माल पर दुकान खोलेगा, तो उसे सामान सप्लाई करने के बदले गहरी रकम हाथ आयेगी और चचा चाननरामने सोचा कि उनका वह नालायक लड़का सर्जन बन जायेगा—रिश्वत! आज उन्नति के शिखर पर चढ़ने के लिए इससे अच्छा कोई साधन नहीं। कल की बात मैं कह नहीं सकता।

[छायाएँ लुप्त हो जाती हैं और क्षण भर के लिए स्टेज पर रोशनी हो जाती है। बरामदा खाली है।

एक ओर चारपाई पर कोई सोया हुआ है, उस के परेशान खुर्राटों की आवाज फिर सुनायी देती है।

स्टेज पर फिर अंधेरा छा जाता है। दो छायाएँ एक दूसरी का पीछा करती हुई आती हैं।]

एक : (आवाज गुरु की है) नहीं माँ, मुझे न तंग करो। मैं आइ० सी० एस० बनने के लिए भाग-दौड़कर रहा हूँ। यदि किसी को पता चल गया कि मेरा पिता वहाँ सब्जी मंडी या लंडे बाजार की नालियों में औंधे मुँह पड़ा रहता है, तो मेरा सब भविष्य नष्ट हो जायगा।

[दामन छुड़ाकर भाग जाता है। माँ की छाया उसके पीछे जाती है और अनुनय के स्वर में चीखती है :—]

— : पुत्र, पुत्र……

[गुरु की छाया निकल जाती है। एक और छाया प्रवेश करती है।]

— : देव……

(उस की ओर बढ़ती है।)

देव : (बचता हुआ) नहीं माँ, उन्हें रखना मेरे बस का रोग नहीं, मैं डरता हूँ। मुझे उनके पास बैठते हुए भय आता है। वे आज भी थप्पड़ जमाने और गालियाँ

देने को तैयार हो जाते हैं। अपने यहाँ रखना तो दूर रहा, मैं तो उनके पास तक नहीं जा सकता।

(कन्नी कतरा कर निकल जाता है।)

माँ : (उस के पीछे जाती हुई) पुत्र......पुत्र......

[एक ओर छाया प्रवेश करती है। हाथ में बैग थामे हुए]

माँ : (उस की ओर बढ़ती हुई) बेटा हरि, तेरे पिता की हालत.........

हरि : मुझे यहाँ नहीं रहना माँ, मुझे अभी शांति-निकेतन जाना है। (गर्व से सीना फुलाकर) तुम्हें नहीं मालूम, मेरी ख्याति पंख लगाकर उड़ चली है। मुझे जगह जगह से निमंत्रण आ रहे हैं। मैं शांति-निकेतन अपनी कविताओं पर एक भाषण देने जा रहा हूँ। जब लोगों को पता चलेगा, मैंने किन कठिन परिस्थितियों में परवरिश पायी है, मेरा पिता कितना क्रूर तथा निर्दयी है तो वे मेरी प्रतिभा पर आश्चर्यान्वित रह जायँगे। आज ही मुझे शान्ति निकेतन चला जाना है।

[तेज़ तेज़ चला जाता है, एक ओर छाया प्रवेश करती है।]

माँ : (उसकी ओर बढ़ती हुई) बेटा हंस, तुम भी अपने पिता की हालत पर तरस न खाओगे तो कौन खायेगा, पुत्र......

डा० हंसराज : मैं तुम्हें कितनी बार कह चुका हूँ कि मुझे तंग न करो। क्यों बार बार मेरी जान खाती हो। यदि उन्हों ने सब रुपया गँवा दिया है तो इसमें मेरा क्या दोष है, यदि वे फटे हाल रहना चाहते हैं तो मैं क्या करूँ !

माँ : उन्हों ने तुम्हें..............

डा० हंसराज : मान लिया उन्हों ने मुझे यह सब कुछ बनाया लेकिन क्या मैं भी इस सब को उनकी भाँति गँवा दूँ। फटे हाल, तार तार कपड़े लिये शराबखानों में घूमता फिरूँ, गालियाँ दूँ, गालियाँ खाऊँ, नालियों में गिरता फिरूँ, मक्खियाँ मुझ पर भिनभिनायें और कुत्ते मेरा मुँह चाटें।

माँ : पुत्र.....................

डा० हंसराज : मैंने क्या कुछ नहीं किया। उन्हें अच्छे से अच्छे बंगले में, अच्छे से अच्छे कपड़ों में आवृत रखा। चूँकि शराब उन की हड्डियों में रच गयी है और वे छोड़ नहीं सकते, इस लिए अच्छी से अच्छी शराब तक उन्हें पीने को दी, पर वे उस कोठी को पिंजरा और उस क़ीमती शराब को कुल्हिया का पानी समझते रहे। फिर मैं क्या करूँ ?

माँ : पुत्र.............

डा० हंसराज : और मैं चाहता क्या था ? केवल थोड़ा सा शिष्टाचार ! मात्र थोड़ी सी सभ्यता !! लेकिन उन्हें भरे बाज़ार ऊँचे ऊँचे बोलना, गालियाँ देना, गालियाँ खाना, पीटना पिटना और अपने यारों के साथ मस्त झूमते फिरना पसन्द है—कमीज़ खुली है तो इसकी उन्हें परवाह नहीं, धोती लटक रही है तो इसकी उन्हें चिन्ता नहीं, सिर या पाँव नंगे हैं तो इसका उन्हें ध्यान नहीं—इस हालत में मैं उनकी क्या सेवा कर सकता हूँ ? मैं स्वयं उन सा तो होने से रहा और उन के साथ वही रह सकता है, जो उन सा हो जाय !

माँ : पुत्र आख़िर वे तुम्हारे पिता......

डा० हंसराज : मैं किसी का पुत्र नहीं। कोई मेरा पिता नहीं। आज मैं इतनी मेहनत, इतने परिश्रम, इतनी दौड़ धूप के बाद सफलता की सीढ़ी पर चढ़ा हूँ। क्या तुम चाहती हो, मैं फिर नीचे का नीचे जा रहूँ—मुझे नित नई पार्टियाँ, नित नये डिनर देने होते हैं। कहाँ लाकर रखूँ मैं उन्हें अपने यहाँ ?

माँ : किन्तु उन्हें तुम रुपये...

डा० हंसराज : उन्हें रुपये देने का मतलब अंधे गंदे कुएं में उन्हें फेंकना है। रुपये का उन के समीप कोई महत्व नहीं। मिट्टी के ढेलों की भाँति वे उन्हें उछाल देते

हैं। उन को दिये गये रुपये सब्ज़ी मंडी, लोहारी अथवा लंडा बाज़ार की नालियों के कीड़े बनते हैं।

(चले जाते हैं।)

[माँ निमिष भर सिर थामे खड़ी रहती है, फिर डा० हंसराज के पीछे जाती है कि दायीं ओर से एक और छाया आती है। माँ उसकी ओर बढ़ती है और पुकारती है :—

माँ : कैलाश!

कैलाशपति : मुझसे तुम क्या कहती हो, इतना ही क्या कम है कि मैं तुम्हें कुछ नहीं कहता। कोई दूसरा होता तो अब तक कब का पकड़ कर जेल में ठोंस देता। शराब पीकर वे इतना अँधेर मचाते हैं कि मेरी सब की सब व्यवस्था भंग हो जाती है। उन के कारण मेरे इलाके में मेरा कोई रोब नहीं रहा। मैं पुलिस-इंस्पेक्टर हूँ, घसियारा नहीं। किन्तु उनके कारण मेरी अवस्था घसियारों से भी गई बीती है, भरे बाज़ार में वे मुझे आधा नाम लेकर पुकारते हैं, मेरे मातहतों के सामने वे मुझे गालियाँ देने लगते हैं। मैंने अपनी तब्दीली के लिए प्रार्थना की है। यदि मुझे तब्दील न किया गया, तो मुझे विवश होकर उन्हें सीखों के अन्दर करना पड़ेगा।

(चला जाता है)

माँ की छाया : पुत्र होकर तुम अपने पिता को सीखों के अन्दर दोगे (दोनों हाथों से कनपटियों को भींचती हुई चीखती है) तुम्हें शर्म नहीं आती (और भी ज़ोर से चीखती है) तुम्हें शर्म नहीं आती (धीरे से जैसे अपने आप) क्या मैंने अपनी कोख से सब कपूत जने ! क्या तुम में एक भी ऐसा नहीं जो अपने माता-पिता को उन की सब त्रुटियों, उनके सब व्यसनों के साथ, अपने पास इज़्ज़त के साथ रख सके ? पुत्र ऐब करते हैं। माँ-बाप डाँटते हैं—और तुम जिनका एक-एक अणु हमारे रक्त से बना है, जो हमारे कारण इस ऊँचाई पर चढ़े हो—अपने पिता को जेल में भेजने को तैयार हो (चीख़ती है)—तुम सब कपूत हो, तुम सब बेशर्म हो; नौज मैंने तुमको जना।

[गिर पड़ती है, अचेत हो जाती है, दायीं ओर से एक और छाया धीरे धीरे उसके पास आती है, उसे हवा करती है, और आवाज़ देती है]

वही छाया : माँ !

(फिर हवा करती है।)

— : माँ !

(माँ की छाया सहारे से उठती है और बैठती है।)

वही छाया : माँ !

माँ की छाया : तुम कौन हो ?

वही छाया : मैं तुम्हारा पुत्र हूँ, मैं दयालचन्द हूँ ।

माँ की छाया : (गद्‌गद् होकर) दयालचन्द......मेरा छठा बेटा...... (उसे आलिंगन में ले लेती है) कहाँ था तू (आर्द्र स्वर से) देख तेरे भाइयों ने हमें किस तरह दुत्कार दिया है। तेरे पिता दो दिन से सब्जी मंडी में औंधे मुँह बेहोश पड़े हैं।

दयालचन्द : मैं उन्हें वहाँ से जाकर उठाऊँगा, उन की हर तरह सेवा करूँगा ।

माँ : उन्हें तीन लाख रुपया आया था। वे तुम्हें ढूँढ़ना चाहते थे, पर सब रुपया तेरे भाइयों ने उनसे लूट लिया। तू क्या करता है, आजकल कहाँ रहता है ?

दयालचन्द : मैं गाड़ियों पर सोडा बर्फ बेचता हूँ माँ !

माँ : (अत्यधिक आर्द्र स्वर में) पुत्र !

[उसे और भी ज़ोर से अपने आलिंगन में भींच लेती है, और सिसकती है ।

छायाएँ लुप्त हो जाती हैं, रंगमंच पर रोशनी हो जाती है]

[वही डाक्टर हंसराज के पोर्शन का बरामदा है। सब खाना खा चुके हैं, इसलिए चटाइयाँ आदि शायद उठा दी गई हैं, कुर्सियाँ मेज़ भी अन्दर पहुँचा

दिये गये हैं और बरामदे में केवल वही चारपाई बिछी है, जिस पर अत्यधिक मद्यपता की अवस्था में पंडित बसन्तलाल को लिटाया गया था। वे अभी तक शायद लेटे हुए हैं। क्योंकि करवट लेते समय उन की चादर खिसक जाती है, और हम उन्हें पहचान लेते हैं।

रसोई घर से अभी तक हल्का हल्का धुआँ निकल रहा है।

रोशनी होने के कुछ क्षण बाद माँ रसोई-घर से निकल कर धीरे धीरे चारपाई के पास जाती है और उन्हें हिलाती हैं।]

माँ : ऐ जी......ऐ जी......

[जोर से हिलाती हैं। पंडित बसन्तलाल हड़बड़ा कर उठते हैं।]

माँ : मैं कहती हूँ, दो बजने को आये हैं। उठो, अब उठ कर कुछ खा-पी लो, मुझे भी दो कौर निगलने हैं।

पं० बसन्तलाल : (निद्रित तथा पूर्ववत् थथलाती हुई आवाज़ में) मैं पूछता हूँ, दयालचन्द !

माँ : (आँखों में चमक आ जाती है) दयालचन्द !

पं० बसन्तलाल : मेरा छठा बेटा !

[तभी उनकी दृष्टि धरती पर गिरे हुए लाटरी के टिकट पर चली जाती है। वे उसे उठा लेते हैं, उसे आँखों के पास ले जाकर पढ़ते हैं। तभी जैसे सब कुछ उनके सामने साफ़ हो जाता है। सिर झुक जाता है और एक दीर्घ-निश्वास उनके ओठों से निकल जाता है।]

(पर्दा सहसा गिर पड़ता है।)

समाप्त

'.क़ैद' और 'उड़ान'

'.क़ैद' और 'उड़ान'—अश्क के दो नवीनतम नाटक हैं। परन्तु दो होकर भी, ये उसी प्रकार एक हैं जैसे मनुष्य का बायाँ और दायाँ, दोनों चरण क्रम से उठकर, एक गति-शील पग बनाते हैं।

इस एक युग में नारी ने प्रगति-पथ की भारी मंजिल तय कर ली है। जो नारी '.क़ैद' में निष्क्रिय, असमर्थ और काराबद्ध है, वह उड़ान में सक्रिय, विद्रोहिनी और अपनेपन की खोज में विकल है।

और अपने इन दोनों नाटकों में, जो नाटकीय कला ही के नहीं, सुपाठ्यता के भी अपूर्व नमूने हैं, अश्क ने मध्यवर्गीय पतनोन्मुख समाज के शिकंजों में जकड़ी हुई नारी और उसके सहयोग से वंचित अस्वस्थ, अभाव-ग्रस्त और विकृत पुरुष के सामने एक नयी पगडंडी बिछा दी है। यह पगडंडी 'अखनूर' की स्वप्निल घाटियों से गुज़रती और 'नाहूँग' की ख़ूँख्वार लहरों को चीरती, 'रमेश' की उपासना के शिखरों और 'शंकर' की वासना के खड्डों से बचती हुई समतल धरती की खोज में बढ़ी चली जाती है।

नाटकों की दिलचस्पी अश्क की वही पुरानी है जिससे न केवल उनके नाटक खेले, वरन् चाव से पढ़े भी जाते हैं। मूल्य २॥)